श्रीवल्लभपञ्चशती समारोह के उपलक्ष में
गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज कृत—
श्रीमद्भगवद्गीता

अमृत-तरंगिणी

(श्रीवरी हिन्दी टीका सहित)

●

भूमिका लेखक :
आचार्यवर्य गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमारजी काँकरोली

●

हिन्दी टीकाकार :
डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी सप्ताचार्य
एम.ए.(हिन्दी-संस्कृत)पी-एच डी.डी-लिट्., साहित्यरत्नादि
प्रवाचक-अध्यक्ष (सं०)
प्राच्यदर्शन महाविद्यालय, वृन्दावन
तथा सदस्य—उत्तरप्रदेश सं० अकादमी
संयोजक-सं० शोध, समिति पा० पु०—आगरा विश्वविद्यालय

प्रकाशक :

श्रीविद्याविभाग, कांकरौली

◆

प्राप्ति स्थान :

१. बैठकमन्दिर मदनझांपा, बड़ौदा
२. श्रीबजरंग पुस्तकालय, बंगालीघाट, मथुरा
श्रीवल्लभाचार्य जयन्ती सं० २०३५

◆

@

प्रथम संस्करण—१००० प्रति

◆

मुद्रक :

बनबारीलाल शर्मा
श्रीसर्वेश्वर प्रेस, वृन्दाबन।

◆

न्यौछावर : २५)

किंचित्प्रास्ताविकम्

[डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी डी० लिट्०

◆

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धागोपाल नन्दनः'

के अनुसार उपनिषदों को धेनु माना है और श्रीमद्भगवद्गीता उनका मधुरपय है साथ ही नन्दनन्दन भगवान् गोपाल उस धेनु के दोग्धा हैं।

जीव की पारलौकिक पुष्टि के लिये उपनिषद् रूपी धेनु की सेवा और उसकी कृपा से प्राप्त अमृत दुग्ध का सेवन परम आवश्यक है उपनिषद् धेनुओं का गीता रूपी अमृत सद्यः प्रस्तुत स्वाभाविक मधुर दुग्ध ही तो है, यह वह दुग्ध है जो व्याससूत्र मीमांसारूपी काञ्चन-पात्र में शंका-समाधानरूपी अनल से तपाकर भगवच्चरित्र माधुर्य से संपृक्त कर सात्त्विक पेयरूप में परिणत किया गया है, अतः मानवमात्र को ऐहिक और पारलौकिक प्रतिष्ठा के लिये इस गीता का अनुपम महत्त्व सब स्वीकार करते हैं।

वेद भगवान् श्रीकृष्ण के निःश्वास हैं और भगवद्गीता श्रीकृष्ण के वाक्य। इन्हीं वाक्यों को 'स्मृतेश्च' ब्र० सू० १, २, ६ सूत्र की व्याख्या में गीता-स्मृति आचार्य ने स्वीकृत की है, शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय में गीता का प्रामाण्य स्वीकार ही है। निबन्ध में कहा है कि—

> **"श्रुति सूत्राणि एकाकोटिः**
> **गीता भागवतं चेति अपरा।"**

गीता और भागवत को भगवच्छास्त्र मानकर उन्होंने कहा है कि 'गीता भगवदुक्त और भागवत भगवत्सम्बन्धी चरित्रात्मक शास्त्र है।' वेद और ब्रह्मसूत्र विशेष अधिकार परायण साधकों के लिये पठनीय हैं, इन शास्त्रों में सर्वसाधारण का प्रवेश नहीं है परन्तु भागवत और भगवद्गीता में सर्वसाधारण का भी प्रवेश है। अनधिकारियों को भी इस गीता में अधिकार है। गीता का पठन-पाठन, तत्त्वचिन्तन सर्वसाधारण के लिये कल्याणप्रद है आर इसमें किसी वर्ग-विशेष का अधिकार नहीं है।

भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य गीता-सिद्धान्तों से पूर्णतया प्रभावित हैं, अथवा इसे यों कह सकते हैं कि जीवात्मा-परमात्मा विषयक भक्ति और प्रेम के मानने वाले मत, धर्म, सिद्धान्त, पन्थ गीता के अभिप्राय से प्रभावित हैं। गीता का प्रभाव, रूपान्तर, शब्दान्तर, भाषान्तर में देखा जा सकता है। अतः निम्न कथन सत्य ही है—

"गीतासुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।"

वल्लभ सम्प्रदाय और गीता साहित्य—

इस सम्प्रदाय में भगवद्गीता के सम्बन्ध में निम्न साहित्य उपलब्ध है

सप्रकाश तत्त्वार्थ दीपनिबन्ध–शास्त्रार्थ प्रकरण—

श्रीवल्लभाचार्य विरचित तत्त्वार्थ दीपनिबन्ध शास्त्रार्थ प्रकरण कारिका के रूप में है और इस पर स्वयं महाप्रभुजी की टीका 'प्रकाश' नाम से विद्यमान है, इसी के कारण इसका इस प्रकार नाम रखा गया है।

तत्त्वार्थ दीप में तीन प्रकरण हैं—

१—शास्त्रार्थ प्रकरण
२—सर्वनिर्णय प्रकरण
३—भागवतार्थ प्रकरण

प्रथम शास्त्रार्थ प्रकरण है—

इत्याकलय्य सततं शास्त्रार्थः सर्वनिर्णयः।
श्रीभागवतरूपं च त्रयं वाचिन यथामति॥

[त० शा० का० ५]

इसके प्रकाश में शास्त्रार्थ का अर्थ गीता लिखा गया है, अतः यह सिद्ध होता है कि शास्त्रार्थ प्रकरण में गीता के अनुसार विचार किया गया है। इस निबन्ध त्रय की पुष्पिका में आचार्य ने स्वयं को "श्रीकृष्ण व्यास श्रीविष्णु स्वामिमतानुवर्ती" लिखा है, इससे यह सिद्ध है कि आचार्य श्रीविष्णुस्वामीमतानुयायी थे और उनका सिद्धान्त गीता के आधार पर शुद्धाद्वैत का सिद्धान्त है।

शास्त्रार्थ प्रकरण में गणनाभेद से १०८ कारिकायें हैं। इसमें वर्णित सिद्धान्तों का निरूपण ऐसे अधिकारियों के लिये किया गया है जो सात्विक भगवद्भक्त, मुक्ति के अधिकारी और भगवदिच्छा से अन्तिम शरीर धारण कर अवतरित हुए हैं। इन लोगों की अन्तिम अभीष्ट-सिद्धि के लिये इस मत का निरूपण है, उपसंहार में कहा गया है कि इस अर्थ का निरूपण समस्त वेद, रामायण, महाभारत, पञ्चरात्र, तत्वसूत्र तथा अन्य प्रमाण चतुष्टय-विरोधी शास्त्रों के अभिमत को लेकर है, अतः "प्रमाणतत्वमाश्रित्य शास्त्रार्थो विनिरूपितः" के अनुसार प्रमाणबल द्वारा इस शास्त्रार्थ का निरूपण है। प्रकाश में ब्रह्म, जीव, जगत्, संसार, बन्ध, मोक्ष, विद्या, अविद्या, माया, भक्ति आदि सभी सिद्धान्तों का समावेश है। आचार्यवल्लभ का सिद्धान्त संकलित रूप में शास्त्रार्थ प्रकरण में ही प्राप्त होता है, अन्यत्र प्रसंगोपात्त विवेचन है, शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग का प्रत्यक्ष दर्शन इस ग्रन्थरत्न में प्राप्त होता है।

शास्त्रार्थ-निबन्ध पर व्याख्या-विवरण—

आवरण मन्त्र-व्याख्या—गोस्वामी पुरुषोत्तमजी ने कारिका और प्रकाश दोनों के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये इसकी रचना की है। सूत्र-रूप प्रकाश और उसकी मूल भूत-कारिकाओं का रहस्य विश्लेषण, गम्भीर परिज्ञान तब तक इस व्याख्या का मनन न किया जाय। बुद्धिमान्द्य से आगतआवरण विनाश के लिये इसका नाम भी अन्वर्थ है, श्रीपुरुषोत्तमजी ने इस व्याख्या की रचना अपने पितृचरण श्रीपीताम्बरजी के नाम से की है, अतः यह उनकी भी कृति कही जाती है।

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध विवृति टिप्पणी—श्रीकल्याणरायजी ने प्रकाश पर टिप्पणी की रचना की थी।

तत्त्वार्थदीप प्रकाशटिप्पणसत्स्नेह भाजन—भारत मार्तण्ड श्रीगट्टूलालजी द्वारा रचित है। यह प्रारम्भिक पंचम कारिका तक ही प्रकाशित है। सत्स्नेह भाजन का निर्माण दीप के लिये आवश्यक था, अतः यह नामकरण किया गया है।

योजना—यह रचना श्रीलालू भट्ट उपनामक श्रीबालकृष्ण भट्ट ने तत्त्वार्थ दीप-निबन्ध प्रकाश पर की है। आचार्य के विमूढ़ आशय की योजनार्थ यह प्रयत्न है।

सुलोचना व्रजभाषा टीका—आवरण मन्त्र टीका के आधार पर गो० जीवनलालजी ने इसकी रचना की है, इसका द्वितीय नाम निबन्ध-तात्पर्यबोधिनी भी है।

शास्त्रार्थनिबन्ध गुर्जरानुवाद—इसके रचयिता हरिशंकर ओंकारजी हैं।

व्यासादेश—वल्लभाचार्यकृत १ श्लोक में गीता का संक्षिप्तार्थ है, यह श्लोक टीकाओं के साथ प्रकाशित है—

व्यासादेशेषु धर्मस्य जनवचनतो किंचनाधि क्रियोक्ता
कार्पण्यं वांगमुक्तं मवितर भजनापेक्षणं वा व्यपोढम् ।
दु:साध्येच्छोद्यमोबा क्वचिदुपशमिता वन्य संमेलनेवा
ब्रह्मास्त्र न्यायउक्त स्तदिह न विहतोधर्म आज्ञाविसिद्धौ ॥

व्यासादेश विवरण—इसके रचयिता श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण हैं। इसमें शंकासमाधान शैली में शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार गीता का सारांश भरा गया है। इसमें यह भी सिद्ध किया है कि भगवान् की प्राप्ति लौकिक अथवा वैदिक उपायों से सम्भव नहीं, अपितु भगवद्धर्म प्रपत्ति से है। भगवान् की शरण में जाने से ही वे मिल सकते हैं। भगवान् केवल भाव-विषय हैं, शरण जाने पर ही शोकनिवृत्ति सम्भव है। भावलभ्य रस ही शोक-निवृत्ति करने में सक्षम है।

व्यासादेश विवरण टीका—इसके रचयिता भी पुरुषोत्तमजी है। यह तत्वदीप टीका के साथ प्रकाशित है।

व्यासादेश (हिन्दी तात्पर्य)—पं० रमानाथ शास्त्री द्वारा रचित यह कृति विवरण को स्पष्ट करती है।

व्यासादेश पद्यप्रासंगिक विवेचनम्—ईसे श्रीवल्लभ दीक्षित ने स्वकीय गीता की तत्वदीपिका टीका में 'सर्वधर्मान्' की व्याख्या करते समय रचा है। 'सर्वधर्मान्' पर गो० गिरधारीजी ने संस्कृत में विवेचन किया है। अप्रकाशित है।

गीतातात्पर्यम्—रचयिता श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण। इसमें आचार्य ने सुष्पष्ट किया है कि गीता का तात्पर्य भक्ति की मर्यादा का निरूपण है। ६ कारिकाओं में मङ्गलाचरण पूर्वक उपक्रम है तथा गद्य के द्वारा विषय का प्रतिपादन है। तत्वदीपिका टीका के साथ प्रकाशित है।

गीतातात्पर्य—रचयिता पं० रमानाथ शास्त्री। यह अनुवाद प्रभुचरणकृत गीता-तात्पर्य का है, इसके पूर्वपक्ष में कहा गया है कि गीता का उपक्रम ठीक सा नहीं लगता क्योंकि प्रारम्भ में धृतराष्ट्र और दुर्योधन की सैन्य का वर्णन है।

अर्जुन को जैसा श्रोता होना चाहिये वह भी नहीं है क्योंकि वह शोक-मोह, अशान्तियुक्त है, उपसंहार भी ठीक नहीं है—गीतापान से अर्जुन को वैराग्योदय होना था, लौकिक सुख त्यागने थे किन्तु वह हिंसा जैसे कर्म में प्रवृत्त हुआ है। इस प्रकार की शंकायें और उसके समाधान इसमें द्रष्टव्य हैं। अर्जुन को उत्तम अधिकारी सिद्ध किया है और 'दया' का उद्भव दैवी-गुण है तथा 'परित्राणाय' को स्पष्ट करने के लिये प्रारम्भ में धृतराष्ट्र और दुर्योधन का वर्णन उपयुक्त ही है। मर्यादामार्ग में वेद शास्त्रोदित कर्म का पालन धर्म है क्योंकि वह विधिबोधित है, भक्तिमार्ग में—विधि-निषेध से परे रहकर भगवदाज्ञा का परिपालन उनकी इच्छानुसार चलना धर्म है। गीता इसी का उदाहरण है। अर्जुन को लक्ष्यकर जीवमात्र को इस मुख्य धर्म की ओर प्रवृत्त करना ही उसका सिद्धान्त है। यह भावना 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' में स्पष्ट है—हे अर्जुन ! सम्पूर्ण विधि प्रतिपादित धर्मों को त्यागकर मेरी शरण में आओ, अर्थात् इस श्लोक में भगवच्छरणागति की प्रधानता है। अर्जुन का अन्तिम कथन है—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' अर्थात् हे कृष्ण ! मेरा मोह नष्ट हुआ, स्मृति प्राप्त की, यह प्रतिज्ञा वाक्य है। अतः अर्जुन का भगवदिच्छानुकूल कार्य में दृढ़ चित्त होकर प्रवृत्त होना महत्वपूर्ण है, जो जीव के कल्याण साधन का श्रेष्ठ फल है। गीता के द्वारा सिद्ध होता है कि भगवदिच्छानुसार प्रवृत्ति और निवृत्ति मानव का परम कर्तव्य है। भगवदिच्छा होने पर ही भागवतरत्न को स्वकर्तव्य का ज्ञान हो सकता है, अन्य साधनों से नहीं। अर्जुन का अङ्गीकार पुष्टिमर्यादा भक्ति में है, पुष्टि पुष्टि में नहीं और इसी कारण वह उपदेश द्वारा प्राप्त तत्वज्ञान से भगवत्कार्य में प्रवृत्त हुआ था, स्वतः नहीं।

गीतार्थविवरणम्—१ अध्याय का यह विवरण—श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण कृत है। गीता के श्लोकों का शुद्धाद्वैत सिद्धान्तपरक विवरण पठनीय है। तत्वदीपिका के साथ प्रकाशित है।

'यावन्न दृश्यते विज्ञै: गीतामृत तरंगिणी' वाक्य में शास्त्रीय संगति के कथन पश्चात् है। तहाँ 'अमृत-तरंगिणी' नाम विचारणीय है, श्रीपुरुषोत्तमजी कृत गीता टीका अमृततरंगिणी की प्रसिद्धि है। सम्भव है यहीं से पुरुषोत्तमजी को नामकरण की प्रेरणा मिली हो ?

अमृततरंगिणी टीका—गो० पुरुषोत्तमजी कृत। गीता की सम्पूर्ण टीका, काशी से स० १९५८ विक्रम में प्रकाशित है। ऐसी प्रसिद्धि है कि इसकी रचना षोत्तमजी ने श्रीव्रजरायजी के नाम से की। यह टीका शुद्धाद्वैत का साम्प्रदायिक भाष्य कहा जाता है।

इसके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, वे जगत् में सबको मुक्त करने के लिये अवतीर्ण हुए हैं, उन्होंने स्वरूप से, चरित्र से, उपदेश से और स्तुति से सभी प्रकार के जीवों का उद्धार किया है। मानव वर्ग के लिये उन्होंने अर्जुन को निमित्त बनाकर गीता शास्त्र का उपदेश दिया और उनके कर्त्तव्य का बोध कराया। भगवत्प्रोक्त इसी भक्ति उपदेश को महर्षि वेदव्यास ने गीता में ७०० श्लोकों में ग्रथित किया। गीता का प्रतिपाद्य क्या है ? तदर्थ श्रीविट्ठलेश्वर कृत तात्पर्य के अवलोकन का सुझाव भी इसमें दिया गया है। इसमें तत्वदीप निबन्ध, सुबोधिनी, अणुभाष्य के आधार पर शुद्धाद्वैत सिद्धान्तानुसार तात्विक विवेचन किया है।

अमृततरंगिणी हिन्दी टीका—प्रस्तुत है। इस हिन्दी टीका में मूल टीका का ही अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। रचयिता डा० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी [प्रकाशित कौकरौली विद्याविभाग]।

रसिकरंजनी टीका—श्रीकल्याण भट्ट ने शास्त्रीय शैली में संस्कृत में टीका की है [शुद्धाद्वैत संसद अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित]।

तत्त्वदीपिका टीका—गो० वल्लभजी कृत। इस टीका का नाम भक्तिभावबोधिनी है। संस्कृत भाषा में लिखित यह टीका बम्बई से संवत् १९६० में प्रकाशित हुई।

गीताभाष्यम्—गोस्वामि श्रीवल्लभ दीक्षितात्मज श्रीबालकृष्णजी द्वारा विरचित गीताभाष्य है, यह उपलब्ध नहीं है।

भगवद्धर्मबोधिनी व्याख्या—पं० रमानाथ शास्त्री कृत हिन्दी भाषा में बड़ा मन्दिर बम्बई से प्रकाशित।

गुजराती टीका—पं० जयशंकर शास्त्रि कृत गुजराती टीका। भक्ति साम्राज्य का बड़ौदा से प्रकाशित।

गीता-सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थों में कतिपय पठनीय हैं, पर खेद है अभी तक ये अप्रकाशित है। श्रीबालकृष्णजी की हस्तलिखित पंजिकाओं में सुरक्षित है।

गीतार्थ विचार में—ले० श्रीबालकृष्ण शास्त्री।

गीताध्यार्थ—संस्कृत भाषा में गीता के अर्थ पर विवेचनात्मक निबन्ध लिखा गया है।

अध्याय १—अधिकारार्थ दृष्टि का स्पष्टीकरण।

अ० २-३—५ अध्यायों में कर्मस्वरूप का विवेचन। ५ प्रकार का वैदिक कर्म पञ्चविध काल के पञ्चविध दोषों का निवर्तन है। यह पञ्चविध दोष सिद्धान्त रहस्य ग्रन्थ में वर्णित है। अत: ५ अध्याय कर्म के प्रतिपादक माने गये हैं।

अ० ७-९—तीन अध्यायों में आत्मा के ३ भेद आत्मा, अक्षरब्रह्म-परमात्मा के त्रिविध ज्ञान का प्रतिपादन हुआ है। ९ अध्याय कर्म और ज्ञान के हैं।

अ० १०-१८—पुरुषोत्तम की नवधा भक्ति के प्रतिपादक हैं, अत: भक्तिस्वरूप ही हैं।

कर्मयोग में—कर्म प्रधान—ज्ञान-भक्ति गौण
ज्ञानयोग में—ज्ञान प्रधान—कर्म-भक्ति गौण
भक्तियोग में—भक्ति प्रधान—कर्म-ज्ञान गौण हैं।

कर्मयोग का फल है आत्मभाव, ज्ञानयोग का फल ब्रह्मभाव और भक्तियोग का फल पुरुषोत्तम भावरूप पुरुषार्थ है।

२. गीतोक्त परिभाषिकाः शब्दाः—इसमें गीता के परिभाषिक शब्दों का संकलन किया गया है।

३. गीतासिद्धान्त विवेचनम्—कतिपय शुद्धाद्वैत सिद्धान्तों का समर्थन इसमें किया गया है।

४. गुणत्रयस्वरूप-विचार—गीतोक्त गुणत्रय का विवेचन।

५. गायत्री गीतार्थयोरेकवाक्यता—गायत्री मन्त्र के अर्थ से गीता का साम्य है।

६. गीता विषयानुबन्धि श्लोकसंग्रह—विषयानुसार मूल-श्लोकों का संग्रह है।

७. प्रकीर्ण श्लोक व्याख्यानम्—इसमें गीता के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य' श्लोकों का विवेचन है।

८. गीता का हिन्दी भावार्थ—इसमें हिन्दी भाषा में गीता के सिद्धांत का निरूपण है।

गीता का पृथक् शरणमार्ग—पं० रमानाथजी शास्त्री। हिन्दी में लिखित निबन्ध प्रकाशित बम्बई। इस निबन्ध में शंकराचार्य आदि सभी सिद्धान्तवादियों के व्याख्यानों पर दृष्टिनिक्षेप करते हुए उनकी समालोचना की है और गीता का मुख्य प्रतिपाद्य 'सर्वधर्मान्' के अनुसार शरणागति है, सिद्ध किया है। यह भी स्पष्ट किया है कि यह पक्ष वल्लभाचार्य की दृष्टि के अनुसार है। अन्य सिद्धान्तवादियों ने अपने सिद्धान्त के अनुसार गीता की व्याख्या की है परन्तु शास्त्र का मत उपसंहार के अनुसार होना चाहिये, वह शरणागति ही है।

गीतार्थ स्वार्थ दर्शन—श्रीकण्ठमणि शास्त्री। अप्रकाशित।

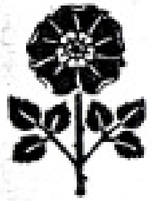

परम नैयायिक आचार्य श्रीबदरीनाथजी शुक्ल
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय–वाराणसी तथा अध्यक्ष
उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी

भगवद्गीता हि श्रीमता भगवता कृष्णेन गीता उपनिषदः, उपनिषदश्च वेदानां शिरांसि, यत्र समग्रो ज्ञानराशिः सञ्चितः, यमासाद्यैव मानव आत्मनोजन्मनः साफल्यं कर्तुमर्हः, विद्वत्कुलं किल भगवद्गीतां महाभारतभागतया तत्र भवतो महर्षेः वेदव्यासस्य कृतिं मन्यते परं ममास्ति तत्र काचिद् विमतिः। मन्मतेन कृत्स्नं गीतावचो भगवत एव वचनं यदमृतरसप्रस्यन्दिशाश्वतप्रसूनकल्पम् 'उवाच' इतिसूत्रैः पिनद्धं च माल्यात्मना भगवता व्यासेन निहितं मध्येमहाभारतं महताऽवधानेन, मामकीनं मतमिदं परिपोषमश्नुते 'या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता:' व्यासेन ग्रथिता पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम्।' इत्यादिवचोजातैः। वस्तुतो यादृशो महिमा गीताया भगवद्वचस्त्वे न तादृशः कथमपि व्यासवचस्त्वे, तद्वचनादेव आम्नायस्य यथा प्रामाण्यं तथैव भगवद्वासुदेववचनादेव गीतायाः प्रामाण्यम्, अत एवोक्तिरियं संगच्छते यद् 'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः'।

भगवद्गीताया गरिमाणमेनं मूर्ध्ना दधानैरेव आचार्यशङ्करभगवत्पादप्रभृतिभिरस्या अनेकाव्याख्याव्यरचिषत। गीताया उत्कृष्टव्याख्यासु अन्यतमा कायेन सङ्क्षिप्ताऽपिभावैः गभीरा गोस्वामि श्रीपुरुषोत्तमलालमहाराजस्य व्याख्या 'अमृत-तरङ्गिणी'। सत्यं व्याख्येयं ज्ञानभक्तिमयामृतप्रवाहं तरङ्गयति, किन्तु साम्प्रतं संस्कृतगिरां विरलप्रचारतया बहूनां हिताण्याधातुं न कल्पते। अतो विद्वत्प्रवरेण वृन्दावनविहारिमथुरानाथपादारविन्दमकरन्दमिलिन्दायमानेन **श्रीवासुदेवकृष्णचतुर्वेदमहोदयेन** हिन्दीभाषया तस्या सचिरतरं रूपान्तरं रचितम्। अहं दृढं विश्वसिमि यच्चतुर्वेदमहोदयस्य व्याख्या भगवद्गीताप्रणयिनामपूर्वमुपकारं कुर्वती तदीयं वैदुष्यमूलकं यशोऽतितरां प्रसारं प्रापयिष्यतीति

दि० २-७-१९७८

—बदरीनाथ शुक्लः

※ मंगल-कामना ※

पादारविन्दे व्रजवल्लभस्य, मनोमदीयं विनिवेशयन्ती ।
गीतार्थसारं प्रतिपादयन्ती, तरंगिणी चेतसिराजतां मे ।।

यद्यपि उपेयतत्व एक ही है जो सर्व नियन्ता सर्वाधार है, किन्तु उसकी प्राप्ति के उपाय अनेक एवं अनन्त हैं, उन्हीं के अनुसार उपेय में भी अनन्तत्व स्वाभाविक है । यही एकता और नानात्व (पृथक्त्व) रूप भेदाभेद सम्बन्ध प्रत्येक पदार्थ में अनुस्यूत रहता है । इसी एकत्व नानात्व चिन्तन-रूप साधन में समस्त उपायों (साधनों) का समावेश हो जाता है । समस्त उपनिषदों के सारभूत भगवद्वचनामृत रूप गीता में इसे ही गुप्त से गुप्त राजविद्या कहा है :—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् । गीता० ९।२
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् । गीता० ९।१५

भगवान् श्रीआद्य निम्बार्काचार्यजी ने स्वाभाविक होने के कारण इसी चिन्तन को अपना स्वाभाविक भेदाभेद सिद्धान्त माना है । गीता की १८ अध्यायान्त पुष्पिकाओं में जो भिन्न-भिन्न १८ योगों का उल्लेख मिलता है वह भी उपलक्षणात्मक अनन्तत्वकारी द्योतक समझना उचित है । विभिन्न भाषाओं में गीता पर डेढ़ हजार से भी अधिक टीकायें लिखी जा चुकी हैं, वे सभी गीतारूपी अमृत-कलश से अमृत के कणों को उडेल रही हैं । उन्हीं में यह अमृत-तरङ्गिणी एक विशिष्ट टीका है । अनुशीलन करने वालों को यह निस्सन्देह अमृत पान कराती है ।

विद्वद्वर पं० वासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी सप्ताचार्य ने श्रीवरी हिन्दी टीका सहित इसे प्रकाशित करवाकर महान् लोक हित किया है, ऐसे कर्मठ परोपकारी विद्वानों के प्रति हमारी मंगल कामना है—श्रीसर्वेश्वर प्रभु इन्हें ऐसे लोकोपकारी ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ उत्तरोत्तर अधिक से अधिक प्रवृत्ति प्रदान करें ।

सर्वलोकशुभाकांक्षी—
व्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ
श्रीजी मन्दिर, वृन्दावन

दिनांक २।७।१९७८

सम्मति

श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसा अनुपम ग्रन्थरत्न है जिसका प्रचार एवं प्रसार विश्व के समस्त शिक्षित वर्गों में है । विश्व की कोई भी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक ऐसी समस्या नहीं है जिसका विवेचन यहां पूर्व या उत्तरपक्ष में न हुआ हो । इसलिए इसका अनुवाद विश्व की प्रत्येक भाषाओं में उपलब्ध है । इसके श्रवण, पठन एवं मनन से प्राणिमात्र का परम कल्याण होना शास्त्रों में बताया गया है ।

गीता जैसे सार्वजनीन तथा सार्वभौम ग्रन्थ के सम्बन्ध में जितना भी कहा सुना और लिखा जाय, वह कम ही है ।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
वत्सः पार्थः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतंमहत् ।।

के अनुसार यह मानवमात्र के ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों का परम साधन है क्योंकि अर्जुन को निमित्त बनाकर यह ग्रन्थ मानवमात्र के कल्याण के निमित्त उपदिष्ट है । जीवात्मा परमात्मा विषयक ज्ञान भक्ति, प्रेम के जिज्ञासुओं के लिए तो यह ग्रन्थ हमेशा उपादेय ग्राह्य एवं स्पृहणीय है ।

अतः मैं डॉ० चतुर्वेदीजी के इस स्तुत्य प्रयास के लिए अनेकशः धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने "अमृत-तरङ्गिणी" टीका के साथ-साथ अपनी विवेचनात्म व्याख्या को प्रकाश में लाकर महान् उत्तम कार्य किया है । अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं ।

श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
निर्देशक
भारतीय साहित्य शोध संस्थान
वाराणसी

दिनाङ्क—१५-४-७८

❋ श्रीद्वारकेशो विजयते ❋

कृतज्ञताज्ञापन

श्रीद्वारकेश संस्कृत महाविद्यालय मथुरा में प्रधानाचार्य पद का भार आ जाने के कारण यद्यपि परीक्षाओं की रुचि समाप्त होने जा रही थी कुछ हितैषी भी मेरे श्रम को इस दिशा में रोकने के लिये चिन्तित थे तथापि वल्लभवेदान्ताचार्य सातवें विषय की आचार्य परीक्षा थी। अतः उसे पूर्ण करने का मैंने भी दृढ़ संकल्प कर लिया था। अध्ययन के समय भगवद्-गीता की अमृत-तरङ्गिणी टीका के विषय में कुछ छात्रों ने जिज्ञासा की जो मेरे निर्देशन में वल्लभवेदान्त परीक्षाओं में प्रविष्ट भी हो रहे थे। बड़े प्रयास से संस्कृत टीका प्राप्त हुई। अत्यन्त जीर्णशीर्ण प्रति से स्वयं अध्ययन दुष्कर था अध्यापन की बात ही क्या थी ?

बाबा सा० श्रीव्रजेशकुमारजी गोस्वामी कांकरौली की अध्ययन प्रवृत्ति परीक्षाओं के साथ संलग्न हुई और मुझे इस सफलता का श्रेय प्राप्त हुआ। श्रीबाबा सा० को परीक्षा के लिये वैसी ही चेष्टा रही जैसी एक जिज्ञासु एवं श्रमशील छात्र की रहनी चाहिये। वे कुछ दिवस के लिये श्रीद्वारकाधीश मन्दिर मथुरा में परीक्षा पूर्व ही पधारते और स्वाध्याय करते। मैंने देखा है कि जिस विषय में उनसे चर्चा की जाती उसमें वे गम्भीरता से प्रवेश करते ज्ञात होता कि यह तो इन्हें पूर्वाभ्यस्त ही है आपकी विलक्षण प्रतिभा रही है अतः उच्च श्रेणी में शास्त्री एवं आचार्य के खण्ड पूर्ण होते चले गये।

अध्ययन काल में एकबार जब आपकी दृष्टि इस टीका की ओर गई तो छात्रों एवं सम्प्रदाय के प्रेमियों के लिये आपने इसकी हिन्दी व्याख्या कराने की इच्छा व्यक्त की। यह टीका क्लिष्ट तो है ही दुष्प्राप्य भी है। सम्प्रदाय के व्यक्तियों को, आचार्यों को भी यह बात खटक रही थी क्योंकि गो० किशोरचन्द्रजी कच्छ मांडवी उन दिनों एम.ए. का अध्ययन मेरे सान्निध्य में वृन्दावन में कर रहे थे और श्रीकल्याणरायजी पूना आदि ने भी

इस टीका के प्रकाशन की इच्छा व्यक्त की थी। बाबा सा० के आदेश मिलते ही मैं इस कार्य में लग गया। १० पृष्ठ प्रतिदिन लिखे गये और कुछ अंश बाबा सा० को दिखाये गये। प्रथम आलोचना के साथ विचार हुआ तदुपरान्त भावार्थ और पुनः हिन्दी अनुवाद की दिशाएँ बदल गईं।

पाण्डुलिपि पूर्ण होकर सहकारी प्रेस मथुरा में गई और सम्मान्य श्रीविट्ठल शर्मा चतुर्वेदी ने श्रमपूर्वक इसकी भाषा को सुधारते हुए मुद्रण अपने संरक्षण में प्रारम्भ कराया। आधा अंश मुद्रित हो जाने के पश्चात् प्रेस का कार्य बिगड़ गया और अपूर्ण अंश श्रीद्वारकाधीश मन्दिर में रखवा दिया गया। यहाँ घुण (दीमक) वृन्द ने प्रत्येक श्लोक का परीक्षण कर डाला। बाबा सा० को इसकी सूचना अविलम्ब दे दी गई। समय व्यतीत हुआ, कई वर्ष का श्रम जाते देख मानसिक कष्ट कैसा रहा वह भुक्तभोगी ही जान सकता है।

पूज्य गोस्वामी श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज श्री ने आज्ञा प्रदान की और पुनः मुद्रण कार्य सम्पन्न हुआ। इधर श्रीवल्लभाचार्य पञ्चशती के महोत्सव प्रारम्भ हो गये। फलतः आचार्यप्रवर श्रीपुरुषोत्तमजी की यह अनुपम कृति सम्भवतः इन दिनों की ही प्रतीक्षा कर रही थी सो पूर्ण होकर अब प्रस्तुत हो रही है।

पूज्य श्रीव्रजेशकुमारजीबाबा सा०ने अपने संक्षिप्त वक्तव्यमें पर्याप्त प्रकाश डाला है एवं मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस कृपा के लिये मैं हृदय से आभारी हूँ। सत्य तो यह है कि श्रीबाबा साहब की प्रेरणा-उत्साह का ही यह परिणाम है।

इसमें अनेक त्रुटियाँ प्रेस बदलने के कारण एवं अत्यधिक विलम्ब के कारण नष्ट पाण्डुलिपि के पुनर्लेखन के कारण भी हो गई हैं जिसके लिये सुधीजन मुझे क्षमा प्रदान कर ध्यानाकृष्ट करेंगे ताकि पुनः प्रकाशन के समय उन्हें सुधारा जा सके।

अध्याय ९-१८ एवं नष्ट अंश का पुनर्मुद्रण श्रीसर्वेश्वर प्रेस, वृन्दावन में हुआ है। श्रीगोविन्दशरणजी शास्त्री व्यवस्थापक प्रेस की शुभ-कामना सतत श्रम के अभाव में इसकी इतनी शीघ्र प्रकाशन व्यवस्था सम्भव नहीं

थी कारण उसी टाइप में मुद्रण करना था जिसमें मथुरा में अर्द्धांश हो चुका था।

“श्री श्रीधरी हिन्दी टीका” नाम पूज्य गुरुवर पितृचरण के स्मरणार्थ रखा गया है। मेरी शिक्षा-दीक्षा एवं जो कुछ प्राप्त किया उन्हीं का प्रसाद है। इस सम्बन्ध में मैं सभी सहयोगियों, मार्गदर्शकों को धन्यवाद ज्ञापित करना उचित समझता हूँ।

माथुर चतुर्वेद विद्यालय के पूर्व प्रधानाचार्य पं० श्रीसबलकिशोर चतुर्वेद शुद्धाद्वैतलब्धवर्ण, पं० श्रीलक्ष्मणदत्तजी शास्त्री याज्ञिक सार्वभौम तथा पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी सेवानिवृत्त पुराणविभागाध्यक्ष सं० वि०वि० वाराणसी, डॉ० हरिदत्तजी शास्त्री एकादशतीर्थ का आभारी हूँ जिन्होंने युक्त परामर्श समय पर दिये।

पाण्डुलिपि कार्य में सहयोगी शिष्यवृन्द डॉ० लवनाथ-कुशनाथ चतुर्वेदी, डॉ० उषा मिश्रा, बरेली, डॉ० शैलजा बंसल, कु० उर्मिला अग्रवाल एम.ए.,उ० वृन्दावन, कु०रेखा गुप्ता एम.ए.,पू० श्रीमहेन्द्रनाथ चतुर्वेदी एम.ए. को शुभाशीष प्रदान करता हूँ।

प्रेस के कार्य में और दौड़धूप में मध्यम पुत्र चि० सहदेवकृष्ण को तथा ज्येष्ठ चि० हरदेवकृष्ण, कनिष्ठ नरदेवकृष्ण को भी शुभाशीष देता हूँ जिन्होंने इस कार्य में बड़ी सहायता की है। इनके अतिरिक्त जिनके नाम विस्मृत हो गये हैं सहयोग किसी भी प्रकार से दिया है कृतज्ञता-ज्ञापित करता हूँ।

‘विद्याविभाग कांकरौली’ तो प्रकाशक ही है उसके लिये मैं क्या कहूँ, सर्वथा धन्यवादभाजन ही है।

जिन अनेक विद्वानों ने अपनी शुभ सम्मतियाँ प्रदान की हैं उनका भी हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। वल्लभवेदान्त के अध्येता, वैष्णवजन एवं गीता मर्म के जिज्ञासुओं को इससे तनिक भी सुख मिला तो अपना श्रम सफल समझूँगा क्योंकि आचार्यों की वाणी की गहनता को खोलकर रखने की योग्यता भला मुझ जैसे अल्पमति के पास सम्भव कहाँ—

“क्वाहंमन्दमतिर्मूढः” वाली उक्ति मुझ पर चरितार्थ है। विज्ञ जन मेरे इस दुस्साहस को अवश्य क्षमा करेंगे और आशीर्वाद देंगे जिससे सुरभारती की सेवा करने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बनी रहे।

प्रकाशक के सम्बन्ध में—

श्रीवल्लभाचार्य पञ्चशती के अवसर पर विद्याविभाग कांकरौली की ओर से इसका प्रकाशन बड़ा ही महत्वपूर्ण है। आचार्यचरण की इस पंचशती समारोह की अवधि में श्रीआचार्यचरण द्वारा ही इसका प्रकाशन निःसन्देह मङ्गलमय है अतः यह टीका आचार्य चरणों को समर्पित करते हुए मुझे परम आह्लाद का अनुभव हो रहा है। यह मेरा सौभाग्य है कि श्री आचार्य चरणों को उन्हीं की कृपा से तुच्छ वस्तु भेंट कर रहा हूँ जबकि यह जानता हूँ—

किं भूषणं कौस्तुभ भूषणाय।
किमासनं ते गरुडासनाय॥

तथापि “भक्तप्रियो माधवः” उक्ति की सार्थकता सम्बल मानकर ऐसा करने की धृष्टता की है अतः आचार्य चरण क्षमा प्रदान करते हुए इसे स्वीकार कर अनुग्रहीत करेंगे।

—वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी

जिनके परम औदार्य से यह व्याख्या प्रकाश में आ रही
है उन्हीं आचार्य चरण, तृतीय पीठाधिपति–
काँकरोली नरेश, श्रीविद्याविभाग
काँकरोली के अध्यक्ष

१००८ गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज

के

कर कमलों में

सादर समर्पित

तुच्छ भेंट

श्रीचरणाश्रित
डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी

वल्लभपञ्चशती जयन्ती
सं० २०३५

॥ श्रीहरिः ॥

शुभाशंसनम्

परमादरणीय श्रीवल्लभकुल-कमल-दिवाकर गोस्वामी १००८ श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज काँकरौली के लालजी
गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमारजी बाबा साहब

★

वासुदेव मुखम्भोजाद्वचनामृतवन्मणीन् ।
सुधियां ज्ञान संसिद्ध्यै यथाशक्ति वयं स्तुमः[१] ॥

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के ग्रन्थों में श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य विवरणादिकों का सूक्ष्म परिचय तो "किञ्चित्प्रास्ताविकम्" में आप प्राप्त कर ही रहे थे, किन्तु इनमें से कुछ ग्रन्थों के कर्तृत्व विषय में सम्प्रदाय के एकदेशीय विद्वानों की रूढ भावनाओं का विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अमृत-तरंगिणी के कर्तृत्व विषय में भी विवाद है कतिपय विद्वान् श्रीव्रजरायजी को इसका कर्ता मानते हैं तथा कुछ विद्वान् श्रीपुरुषोत्तमजी को, श्रीपुरुषोत्तमजी को कर्ता मानने वाले विद्वानों का तर्क है कि आपने जो शैली भाष्य प्रकाश में अन्य आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए अपनायी है वही शैली यहाँ भी उपलब्ध है। अतः इस ग्रन्थ के कर्ता श्रीपुरुषोत्तमजी हैं।

एक दूसरा भी तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि श्रीपुरुषोत्तमजी (नवलक्षग्रन्थकार) ने इस ग्रन्थ को अपने धर्मपिता के नाम से लिखा, किन्तु मार्मिकता से मनन करने पर स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जो भाषा शैली की प्रौढता भाष्यप्रकाश में दृष्टिगोचर होती है, वह इस ग्रन्थ में नहीं है तथा किसी अन्य के नाम से ग्रन्थ लिखने की परिपाटी तो राजाओं के चाटुकार आश्रित कवियों में रही है, अन्यत्र नहीं।

---

[१] श्रीप्रभुचरणाः—गीतार्थ विवरणे

पिता की अपूर्ण कृति को पुत्र पूर्ण करे यह होता है, किन्तु पुत्र पिता के नाम से ग्रन्थ लिखे यह सम्भव नहीं, इस प्रकार का उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता। श्रीव्रजरायजी स्वयं विद्वान् थे, उनके अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, अतः ऐसा कोई कारण लक्षित नहीं होता कि उनके नाम से किसी अन्य व्यक्ति को ग्रन्थ रचना करनी पड़े। अतः निर्विवाद रूप से मानना चाहिये कि अमृत तरंगिणी ग्रन्थ के प्रणेता श्रीव्रजरायजी ही हैं।

इसी प्रकार का विवाद श्रीकृष्णचन्द्रजी की कृति "ब्रह्मसूत्र व्याख्या भाव प्रकाशिका" के विषय में भी है। इसे भी कुछ विद्वान् श्रीपुरुषोत्तमजी की कृति मानते हैं। इसमें भी व्याख्या शैली पूर्वोक्त भाष्यप्रकाश के ही सदृश है, किन्तु श्रीपुरुषोत्तमजी ने पितृव्य श्रीकृष्णचन्द्रजी को अपने गुरु रूप में स्मरण किया है तथा अपने गुरु की शैली को ग्रहण किया है, परन्तु दुराग्रहवश कुछ लोग गुरु में ही 'ग्रन्थ प्रणयन शक्ति' का ह्रास कल्पित करने लगे। वस्तुतः ब्रह्मसूत्र व्याख्याभाव प्रकाशिका के लेखक श्रीकृष्णचन्द्रजी ही हैं।

यदि अमृत तरंगिणी के रचयिता श्रीव्रजराजजी को स्वीकार नहीं किया जाता तो नवलक्ष ग्रन्थकार श्रीपुरुषोत्तमजी भी इसके लेखक नहीं हो सकते। क्योंकि भाषा शैली ही अन्तः साक्ष्य मानी जाती है, प्रस्तुत टीका की भाषा और भाष्यप्रकाश की भाषा में बहुत अन्तर है।

हमें अपने अनुसन्धान कार्य में उक्त व्याख्या की कोई प्राचीनतम प्रति दृष्टिगोचर नहीं हुई, अतः और कोई समाधान इस विवाद को सुलझाने में प्राप्त नहीं हुआ, हां एक समाधान चित्त में स्फुटित होता है कि इसके रचयिता दशदिगन्त विजयी श्रीपुरुषोत्तमजी न होकर उनके दत्तक पुत्र (गोद बैठे) भी श्रीपुरुषोत्तमजी नाम के ही हुए हैं, संभवतः वे ही ग्रन्थकार रहे हों और शायद कुल परम्परानुसार पितामह के नाम से उनका उपनाम व्रजरायजी रहा हो, इस प्रकार उभय नाम से प्राप्त कर्तृत्व का समाधान

प्राप्त हो सकता है। अन्यथा भाषा शैली का अन्तः साक्ष्य प्रकाशकार से ऐक्य सिद्ध नहीं होने देता। यह सुधी लोगों के मनन का विषय है, मैं तो केवल दिशा इंगित कर रहा हूँ।

इसी प्रकार कुछ लोग भ्रमवश 'न्यासादेश'को भी श्रीवल्लभाचार्यजी की कृति मान बैठे हैं, किन्तु इसके व्याख्याकार श्रीवल्लभजी भी स्पष्टतः वेदान्तदेशिक का संकेत देते हैं, वस्तुतः यह वेदान्तदेशिक की ही कृति है।

श्रीवल्लभाचार्यजी ने अपने ग्रन्थ के मुख पृष्ठ पर स्वाक्षरों में इसे अंकित किया था, जैसाकि आज भी हम लोग कुछ पढ़ते हुए किसी चित्ताह्लादक अंश को अपनी पुस्तक के पृष्ठों पर नोट कर लेते हैं। रामानुज सिद्धान्तवादी देशिक के द्वारा पुष्टिमार्गोक्त भगवच्छरणागति का निरूपण देखकर श्रीआचार्यजी ने उक्त पद्य अङ्कित कर दिया और श्रीप्रभु चरण ने उसकी व्याख्या स्वकीयजनों के हित के लिये करदी, किन्तु रूढ़ि ग्रस्तों की दृष्टि इतर मत वादियों के गुणों को ग्रहण करने में भी संकोच करती है। केवल श्रीप्रभु चरण की व्याख्या के आधार पर ही उक्त ग्रन्थ को आचार्यजी की कृति नहीं माना जा सकता।

उक्त पद्य वेदान्तदेशिक की "न्यासविंशति" में उपलब्ध है, और वे श्रीप्रभु चरण से दो शताब्दि पूर्व विद्यमान थे, वेदान्तदेशिक का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शतदूषणी' भी श्रीप्रभु चरणों के हस्ताक्षरों में लिखा हुआ उपलब्ध है। इस स्थिति में केवल हस्ताक्षर मात्र के आधार पर ही हम इसे श्रीप्रभु चरण की कृति मानलें ?

ऐसे अनेक प्रश्न अनेक ग्रन्थों के विषय में चल रहे हैं, परन्तु उन विद्वानों से हम यही अनुरोध करना चाहते हैं कि केवल रूढ़िगत विचार-शैली को छोड़कर अन्तःसाक्ष्य, बहिःसाक्ष्य के आधार पर विचारकर कोई निर्णय करें। अस्तु।

सम्प्रति शुद्धाद्वैतसिद्धान्तानुसारी कोई भी गीता व्याख्या जिज्ञासुओं को उपलब्ध नहीं थी, अतएव विद्याविभाग कांकरोली ने श्रीद्वारकेश संस्कृत महाविद्यालय के पूर्व प्रधानाचार्य डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी सप्ताचार्य डी. लिट् से इस टीका की हिन्दी व्याख्या कराकर सम्प्रदाय एवं हिन्दी जगत् के समक्ष एक सुन्दर कृति को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। डॉ० चतुर्वेदी सम्प्रदाय के मर्मज्ञ विद्वान् एवं भागवत वक्ता तथा लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं।

आशा है सुज्ञ पाठकों को ज्ञानार्जन में प्रस्तुत ग्रन्थ उपादेय होगा।

"सुज्ञेषु किं बहुना"

श्रीमदाचार्य-चरण-शरण—

गोस्वामी व्रजेशकुमार शर्मा

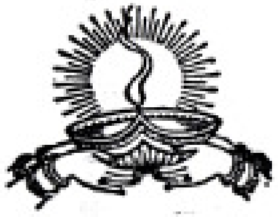

श्री द्वारकेशो जयति

श्रीगोपीजन वल्लभाय नमः। श्रीगणेशाय नमः।

◆

अथ मंगलाचरणम्

यन्नामस्मृतिमात्रेण निःशेषक्लेशसंक्षयः।
जायते तत्क्षणादेव तं श्रीकृष्णं नमाम्यहम् ॥१॥

यत्कृपादृष्टिसंसिक्ताः स्नेहपल्लविताः सदा।
रचयन्तिस्म गोपीशं तं श्रीवल्लभमाश्रये ॥२॥

श्रीविट्ठलपदांभोजकृपामधुसुपूरितः।
व्याख्यास्ये भगवद्गीतां भक्तिमार्गानुसारतः ॥३॥

मंगलाचरण

जिन भगवान् श्रीकृष्ण के नाम स्मरण मात्र से शीघ्र ही सम्पूर्ण क्लेश क्षीण हो जाते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ[1] ॥१॥

जिनकी कृपा दृष्टि से सदा आप्लावित एवं स्नेह से आनन्दित होकर श्रीगोपीवल्लभ का लाड़ लड़ाया करते थे, उन श्रीवल्लभाचार्य प्रभु के चरणों का मैं आश्रय लेता हूँ ॥२॥

श्री विट्ठलनाथ जी के चरण कमलों की कृपा रूपी मधु से परिव्याप्त भक्ति मार्ग के अनुसार मैं श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या करता हूँ ॥३॥

---

[1] ग्रन्थ के आरम्भ में विघ्न निवारणार्थ शिष्य शिक्षार्थ अपने इष्ट देवता का स्मरण किया जाता है। उक्त परम्परा के अनुसार श्रीपुरुषोत्तम जी महाराज ने अपने इष्ट देव श्रीकृष्ण का स्मरण किया है। यह नमस्कारात्मक मंगलाचरण है जो 'नमामि' पद से स्पष्ट है। कहीं कहीं मंगलाचरण वस्तु निर्देशात्मक भी होता है।

श्रीकृष्ण का नाम माहात्म्य अपूर्व है, इस ओर ग्रन्थकार ने ध्यान आकर्षित किया है।

टीकाकार ने द्वितीय श्लोक में आचार्य चरण श्रीवल्लभ का तथा तृतीय श्लोक में उनके पुत्र श्रीविट्ठलनाथ जी महाराज का स्मरण किया है।

वेदोक्त धर्म लक्षण भेद से दो प्रकार का है—एक प्रवृत्ति परक और दूसरा निवृत्ति परक।

—शांकर भाष्य, पृष्ठ २

प्रवृत्ति लक्षण धर्म अभ्युदयार्थियों के लिये साक्षात् अभ्युदय का हेतु है।
निःश्रेयसार्थियों के लिये परम्परा द्वारा निःश्रेयस हेतु है।
निवृत्ति लक्षण धर्म तो साक्षात् ही निःश्रेयस हेतु है।

—आनन्दगिरि व्याख्या

उपोद्घात

तत्र गीताशास्त्रं किंपरमिति पूर्वं विचार्यते तत्र शंकराचार्याः—

स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत् तस्य स्थित्यर्थं 'प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं तन्निःश्रेयसार्थं निवृत्तिलक्षणं धर्मं च ग्राहयित्वा'।

सांप्रतं कलिधर्मेण धर्मेऽभिभूयमाने तद्रक्षार्थं स आदिकर्त्ता नारायणाख्यो विष्णुः देवक्यां वसुदेवादंशेन किल सबभूव।

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदासंपन्नस्त्रिगुणात्मिकां मायां प्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् मायया देहवानिव जीववज्जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते।

स एव च स्वप्रयोजनाभावेपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयमर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नायोपदिदेश।

तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं। तच्च सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरम लक्षणं। तच्च काम्यनिषिद्धत्यागपूर्वकात् परमेश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणाद्धर्माद्बहुजन्माभ्यस्तात् क्रमेण भवति। सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकादात्मज्ञाननिष्ठारूपाद्धर्मात् शीघ्रं भवति।

इमं द्विप्रकारं धर्मसाधनं— 'निःश्रेयसं प्रयोजनम्।

परमार्थतत्वं वासुदेवाख्यं च परं ब्रह्माभिधेयं साध्यभूतं विशेषतोभिव्यंजयद्विशिष्टप्रयोजनसंबंधाभिधेयवत् गीताशास्त्रमित्यूचुः तेन तन्मते आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद्द्विधात्मकाद्धर्मान्मुक्तरूपो मोक्षो भवति इति सिध्यति।

उपोद्घात

अब गीता शास्त्र का लक्ष्य क्या है इस सम्बन्ध में टीकाकार ने सर्वप्रथम श्रीशंकराचार्य का मत व्यक्त किया है—

'इस जगत् को रचकर इसकी पालन की इच्छा वाले उस भगवान् ने पहले मरीचि आदि प्रजापतियों का सृजन कर उन्हें वेदोक्त प्रवृत्ति लक्षण धर्म—प्रवृत्ति रूप धर्म (कर्म योग) ग्रहण करवाया । फिर उनसे अलग सनक-सनन्दनादि ऋषियों का सृजन कर ज्ञान वैराग्य लक्षण वाले निवृत्ति रूप धर्म (ज्ञान योग) को ग्रहण करवाया ।

पुनः कलि के द्वारा धर्म के तिरस्कार किये जाने पर इसकी रक्षा के हेतु आदि कर्त्ता नारायण नामक विष्णु वसुदेव जी से देवकी के गर्भ में अपने अंश (लीला विग्रह) से प्रकट हुए, यह प्रसिद्ध है । वे भगवान् यद्यपि ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से सदा सम्पन्न हैं तथा अज, अविनाशी, अव्यय, भूतों के ईश्वर और नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव भी हैं, फिर भी अपनी त्रिगुणात्मिका माया प्रकृति को वश में करके लीला पूर्वक देहधारी की भाँति उत्पन्न हुए-से, लोकों पर कृपा करते-से दीखते हैं ।

अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी भगवान् ने भूतों पर कृपा करने की इच्छा से शोक मोह रूप महासमुद्र में निमग्न अर्जुन को दोनों ही प्रकार के वैदिक धर्मों का उपदेश दिया ।

इस गीता शास्त्र का संक्षेप में प्रयोजन परं निःश्रेयस है, यह कहा जा सकता है । यह प्रयोजन सहेतुक संसार का अत्यन्त परम लक्षण है । इस निःश्रेयस की प्राप्ति काम्य कर्म—निषिद्ध कर्मों के त्यागने पर, परमेश्वर को सब कुछ समर्पित है इस बुद्धि द्वारा किये गये धर्म से एवं अनेक जन्म के अभ्यास से क्रमशः होती है । सम्पूर्ण कर्मों के त्याग से, आत्म ज्ञान निष्ठा रूप धर्म से शीघ्र उपलब्धि होती है । इन दो प्रकार के धर्म का साधन ही निःश्रेयस का प्रयोजन है ।

परम कल्याण ही जिनका प्रयोजन है ऐसे इन दो प्रकार के धर्मों की ओर लक्ष्य भूत वासुदेव नामक परब्रह्म रूप परमार्थ तत्व को विशेष रूप से अभिव्यक्त करने वाला है । यह गीता शास्त्र असाधारण प्रयोजन सम्बन्ध और विषय वाला है । तथापि इसके टीकाकार का कथन है कि श्रीशंकराचार्य के मतानुसार आत्मज्ञान निष्ठा रूप विद्यात्मक धर्म से स्वरूपावाप्ति रूप मोक्ष होती है, यह सिद्ध है ।

तत्र विद्या सात्विकी अविद्या राजसतामसी सत्वरजस्तमसां च परस्पराऽभिभावकत्वम् । रजस्तमश्चाभिभूयेति वक्ष्यमाणवाक्यात् । अतो रजस्तमः क्रियमाणाभिभवनिवृत्यर्थं गुणत्रयनिवारकं साधनान्तरमन्वेष्टव्यं भगवत्प्रनिरूपम् । तदत्र नोक्तमतो न्यूनमेतदवगंतव्यम् ।

न तु गीतायां भगवता ज्ञानस्य संन्यासस्य चोपदेशात्तत्रैव गीताया अपि तात्पर्यमिति शंक्यम् । पूर्वोक्त विस्तरणादर्जुनं प्रतिक्रुद्धेन भगवता तावन्मात्रोप देशात् ।

"न शक्यं तन्मयाभूयस्तथा वक्तुमशेषतः ।
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया" ।।

इत्यनुगीतारंभस्थ वाक्येन तथावसायात् ।

अत्राप्यन्ते शरणगमनस्यैवोपदेशात् । न ज्ञाने वा संन्यासे तात्पर्यमिति दिक् । मधुसूदनसरस्वती तु निःश्रेयसे विशेषमाह—

सच्चिदानन्दरूप तत्पूर्णं विष्णोः परं पदं यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः कांडत्रयात्मका इति ।

किं च कर्मोपास्तिस्तथाज्ञानमिति कांडत्रयं क्रमात् ।
तद्रूपाष्टादशाध्यायी गीता कांडत्रयात्मिका ।।

एकमेकेन षट्केन कांडमत्रोपलक्षयेत् । इत्युक्त्वा प्रथमे षट्के कर्मनिष्ठा द्वितीये भक्तिनिष्ठा तृतीये ज्ञाननिष्ठा चोक्ता ।

ज्ञानकर्मणोरत्यन्तं विरुद्धत्वेन तत्समुच्चयस्यानंगीकारात्प्रथम तृतीययोः कांडत्रये विश्लेष उपासनारूपभगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यानुगतत्वान्मध्यमेनोक्ता किं च । उपासनात्मिका भगवद्भक्तिस्त्रिविधा । कर्ममिश्रा, शुद्धा ज्ञानमिश्रा चेति ।

तत्राद्य प्रथमे षट्के कर्मत्यागमुखेनविशुद्ध त्वंपदार्थो निरूप्यते । द्वितीये षट्के भगवद्भक्तिनिष्ठा वर्णनमुखेन भगवान्परमानन्दस्तत्पदार्थो निरूप्यते ।

तृतीये तु तयोरैक्यं वाक्यार्थः स्फुटं वर्ण्यते इति विशेषमाह ।

तदपि च नरोचिष्णु तादृशवाक्यस्य तत्रादर्शनात् । सर्वधर्मानिति वाक्ये यच्छरणपदं तत्, 'शरणं गृहरक्षित्रोरि' ति कोशात् तयोरन्यतरवाचकं सत् तादृशेर्थे लाक्षणिकतामापद्यते । इत्यसंगतत्वात् ।

विद्या सात्विकी है, अविद्या राजस तामसी है। सत्व रज तम एक दूसरे का
अभिभव भी करते हैं। 'रज और तम को अभिभूत कर' ऐसा श्लोक भी आगे कहा
गया है। अतः रजोगुण तमोगुण से किये गये तिरस्कार की निवृत्ति के लिये—तीनों
गुणों की निवृत्ति के लिये अन्य साधन का अन्वेषण भी आवश्यक है जो भगवान् के
प्रतिरूप हो। यह यहाँ नहीं कहा है अतः इसे अपूर्ण ही समझना चाहिये।

शंका—गीता में भगवान् ने ज्ञान का और संन्यास का उपदेश दिया है अतः
गीता का तात्पर्य उक्त ज्ञान और संन्यास में ही क्यों न माना जाय? अर्जुन जब इन
ज्ञान और संन्यास को विस्मृत कर बैठता है तब भगवान् क्रुद्ध होकर इतना ही उपदेश
करते हैं।

'अब मैं उस प्रकार से सम्पूर्ण रूप में ब्रह्म का वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि
उस समय मैंने योगयुक्त होकर ही—परब्रह्म का उपदेश किया था।' इस अनु
गीतारम्भ के पूर्व वाक्य से निश्चित है।

समाधान—किन्तु यहाँ भी अन्त में शरणागमन का ही उपदेश दिया है।
अतः ज्ञान या संन्यास में गीता का तात्पर्य मानना उचित नहीं है।

मधुसूदन सरस्वती ने निःश्रेयस में विशेष बात कही है—'विष्णु का परं पद
सत्-चित्-आनन्द से पूर्ण है जिसकी प्राप्तिके लिये वेद भी तीन काण्डों में रखेगये हैं।'
वेद के काण्ड तीन हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। इन तीनों रूपों से १८
अध्याय वाली गीता भी काण्ड त्रयात्मिका है। प्रत्येक काण्ड से गीता के छह अध्याय
सम्बद्ध हैं। प्रथम छह अध्याय में कर्मकाण्ड, द्वितीय में भक्ति, तृतीय में ज्ञाननिष्ठा है।
ज्ञान और कर्म अत्यन्त विरुद्ध हैं। इनका समुच्चय स्वीकार्य नहीं, फलतः
उपासना रूप भगवद्भक्ति निष्ठा मध्य में रखी गई। उपासनात्मिका भगवद्भक्ति
तीन प्रकार की है—१ कर्म मिश्रा २ शुद्धा ३ ज्ञान मिश्रा।

कर्म मिश्रा प्रथम छह अध्याय में है। इसमें कर्म त्याग पूर्वक विशुद्ध 'त्वं'
पदार्थ वर्णित है। द्वितीय षट्क में भगवद्भक्ति निष्ठा वर्णन के रूप में भगवान् परमा-
नन्द 'तत्' पदार्थ का निरूपण है। तृतीय षट्क में दोनों का ऐक्य वाक्यार्थ स्पष्ट वर्णित है।
फिर भी 'नरोविष्णु' जैसे वाक्य का दर्शन यहाँ नहीं है। 'सर्व धर्मान् परि-
त्यज्य' इस वाक्य में जो शरणं पद है वह तो ऐसे स्थल पर लाक्षणिक है क्योंकि
शरण शब्द के दो अर्थ हैं—गृह और रक्षक, 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इस कोश से दो में से
एक का वाचक होकर उस अर्थ में लाक्षणिक है। यह असंगत है।

श्रीधरस्तु सकललोकवंदितचरणः परमकारुणिको भगवान् श्रीदेवकीनन्दनः तत्त्वज्ञानविजृंभितशोकमोहविभ्रंशितविवेकतया निजधर्मपरित्याग परधर्माभिसंधिपरमर्जुनं धर्मज्ञानरहस्योपदेशप्लवेन तस्माच्छोकमोहसागरादुद्धार इत्येतावदुक्त्वा गीतायां च प्रायशो भगवदुक्त्वा एव श्लोकाः व्यासचरणैस्तु तत्संगत्यर्थं मध्ये-मध्ये केचन श्लोका उक्ता इति बोधनाय गीतामाहात्म्यस्थं वाक्यमुक्तवान्—

"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।" इति॥

रामानुजाचार्यास्तु—निरतिशयानवधिककल्याणगुणैकतानाऽनंतज्ञानानन्दैकादिस्वरूपादिनिखिलजगदुदयविभवलयलीलान्तनिखिलविशेषणविशिष्टः परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमो नारायणो ब्रह्मादिस्थावरान्तं निखिलं जगत्सृष्ट्वा स्वेन रूपेणावस्थितो भूभारावतारणोपदेशेनास्मदादीनामपि संसारदुःखप्रशमनाम सकलमनुष्यनयनविषयावगतः परापर निखिलजनसंतापहराणि चेष्टितानि कुर्वन् परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनभूतं वेदान्तोदित स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगतं भक्तियोगमवतारयामासेति वदन्तः ज्ञानकर्मसमुच्चयांगसहितो भक्तियोगो गीताशास्त्रार्थं इति तदाविभवि प्रयोजनं तु भक्तानामस्मदादीनां संसारदुःखशमनमिति च सूचयामासुः। इदं च सिद्धान्तस्यानुगुणः।

इह खलु भगवान् पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णः सर्वमुक्त्यर्थमवतीर्णः स्वरूपेण भक्तिं दत्वा सात्विकादींस्त्रिविधान् भक्तानुद्धरन् सर्वधर्मशून्यस्य कलेः प्रवृत्तिं वीक्ष्याग्रिमाणामुद्धारार्थं भक्तिजननाय स्वस्वरूपमर्जुनाय प्रसंगादुपदिदेश।

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ गीता॥७।१६॥

इति वक्ष्यमाण वाक्ये वक्तव्येषु चतुर्थाधिकारिषु प्रथमाधिकारद्वयस्याऽर्जुने विद्यमानत्वात्। स उपदेशो भगवज्ज्ञानावतारैर्व्यासचरणैः सप्तश्लोकशतेषूपनिबद्धः। तदर्थसंग्रहस्त्वेवं प्रभुचरणैरुक्तः।

प्रवृत्तिधर्मं भगवान् ऋषिद्वारा निरूप्यतु।
निवृत्तिमिष्टां सुदृढां निःसंदिग्धां हरिर्जगौ॥
साङ्ख्यं योगो रहस्यं च रहस्यतममेव च।

श्रीधर स्वामी का तो यह कथन है कि सकल लोक वंदित चरण परम कारुणिक भगवान् देवकीनन्दन ने तत्व ज्ञान के व्यामोह में पड़े शोक मोह से भ्रष्ट विवेक वाले तथा निजधर्म परित्याग चाहने वाले एवं पर धर्म अभिसम्बन्धिपरायण अर्जुन को धर्म-ज्ञान रहस्य उपदेश की नौका द्वारा शोक मोह रूपी समुद्र से पार कर दिया। ऐसा कह कर कहा है कि 'गीता में प्रायः भगवदुक्त ही श्लोक हैं, क्वचित्-क्वचिद् व्यास जी ने संगति बैठाने के लिये श्लोक कहे हैं।' इसे व्यक्त कराने के लिये गीता माहात्म्यस्थ वाक्य भी कहा है—'गीता सुगीता कर्त्तव्या'।

रामानुजाचार्य का मत है कि सर्वातिशायी सर्वश्रेष्ठ कल्याण रूप अनन्त ज्ञान-आनन्दादि स्वरूप, सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय लीला पर्यन्त निखिल विशेषणों से विशिष्ट परब्रह्म रूप पुरुषोत्तम नारायण ने ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् की रचा और उसमें अपने रूप से स्थित होकर भूभार अवतारण उपदेश से हम जैसे लोगों का भी संसार दुःख निवारण हो, अतः सकल जनों से ज्ञात, परावर, निखिल जन संताप हारी चेष्टाओं द्वारा परम पुरुषार्थ लक्षण मोक्ष साधन भूत वेदान्त प्रतिपादित, स्व विषयको ज्ञान कर्मानुगत भक्ति योग को स्थापित किया।

ज्ञान कर्म समुच्चयांग सहित भक्ति योग ही गीताशास्त्र का तात्पर्य है। इसके प्रकट होने का एकमात्र प्रयोजन हम जैसे भक्तों का संसार दुःख शमन ही है, श्रीमद्रामानुजाचार्य ने अपने कथन से यह सूचित किया है।

विशिष्टाद्वैत को यह सिद्धान्त मान्य है।

भगवान् पुरुषोत्तम ने सबके बन्धनों का उच्छेद करने के लिये अवतार लिया है। वह अपने स्वरूप से भक्ति देकर सात्त्विक आदि तीन प्रकार के भक्तों का उद्धार कर सर्व धर्म शून्य कलि की प्रवृत्ति को देखकर भावीजनों के उद्धारार्थ, भक्ति प्रकाशनार्थ, स्व-स्वरूप का अर्जुन को उपदेश करते हैं।

हे अर्जुन, चार प्रकार के मनुष्य मेरा भजन करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इनमें के चार अधिकारों में प्रथम दो अधिकार अर्जुन में विद्यमान हैं। वह उपदेश भगवान् के ज्ञानावतार व्यास ने ७०० श्लोकों में उपनिबद्ध किया है।

उपदेश का सार प्रभु चरणों ने इस प्रकार उपनिबद्ध किया है—

प्रवृत्ति धर्म को भगवान् ने ऋषि द्वारा व्यक्त कराया और असंन्दिग्ध निवृत्ति धर्म को हरि ने स्वयं सांख्य योग और गोप्यतम तत्व, एक का द्वितीय से आधिक्य,

अन्योन्याधिक्यनिर्द्धारो ज्ञानविज्ञानयोरपि ॥
स्वस्वरूपविनिर्द्धारो भजनेतरनिर्णयः ।
तद्धेतुगुणवैषम्यं सर्वशास्त्रविनिर्णयः ॥
इति गीतार्थनिर्द्धारो यथाभागो वितन्यते ।
सांख्य योगौ निरूप्यादौ मोहमुत्सार्य फाल्गुनम् ॥
भक्तिपीयूषपातारं कृतवानिति संग्रह । इति ।

तत्र प्रथमेऽध्याये धृतराष्ट्रवाक्येन कुत उपक्रम इत्याकांक्षायां गीतातात्पर्यसम्बन्धे प्रभुचरणैर्विचारितम् ।

अत्र हि भगवान् स्वतत्त्वं पार्थायोपदिशति । तत्रोपक्रमे धृतराष्ट्रस्य वचनं नोपयुज्यते । अभक्तत्वात् । नापि तत्पुत्रस्य दुर्योधनस्य अत्यन्तबहिर्मुखत्वात् राक्षसावतारत्वाच्च । किञ्चात्र ब्रह्मविद्योपदिश्यते तत्र च शान्तोऽधिकारी सनत्कुमार-नारदसंवादे सोऽहं भगवतः शोचामीति नारदस्य शोकश्रवणादिति वाच्यम् । तत्र शोकस्यात्मज्ञानार्थत्वात् । अत्र पापभीत्यादि कथनेन तद्वैलक्षण्यात् । पार्थे आत्मज्ञानाधिकारस्यादर्शनाच्च किं च अत्र तूपदेष्टा भगवान् सत्यसंकल्पः सचेदर्जुनोद्धारायात्मविद्यामुपदिशेत्तदाऽर्जुनोऽपि राज्यात्संसाराच्चापरतो भवेत् । तत्तु न दृश्यते अतः फलव्यभिचारादपि नोपदेशो युक्त इति चेत् । अत्र वदामः ।

पार्थोहि भगवता स्वीयत्वेन भक्तिमार्गेऽङ्गीकृतः ।
पार्थास्तु देवो भगवान्मुकुन्दो गृहीतवान्स क्षितिदेवदेवः ॥३।१।१२॥

इति तृतीयस्कन्धे विदुरवाक्यात् ।

भगवांश्च भूभारहरणं चिकीर्षुर्युधिष्ठिरेण राजसूयं कारितवान् । राजसूयोत्तरं महायुद्धस्य दर्शनात् । तस्य च भगवदिच्छाविषयत्वं दशमस्कन्धे श्रीमदुद्धवेरुक्तम् ।

प्रायः पाक विपाकेन तववाभिमतः क्रतु इति ॥१०।७१।१०॥

किं च युधिष्ठिरादि द्वारा भगवता धर्म उपस्थापनीयः असुरा हंतव्याः । 'यदा यदा हि धर्मस्य' इति वक्ष्यमाणवाक्येन तदर्थमवतारस्य स्वयमेव कथनात् । तच्च युधिष्ठिरस्य राज्ये सति भवति । राज्यान्ते नरकमित्युत्सर्गः । एवं सति भ्रातापि भ्रातरं हन्यादिति न्यायेन लोकवद्विपू-

ज्ञान विज्ञान का तारतम्य, स्व-स्वरूप विनिर्द्धार, भजन से भिन्न का निर्णय, गुणों की विषमता, सर्व शास्त्रों का विनिर्णय, गीता में यथा भाग व्यवस्थित किया है।

प्रारम्भ में सांख्य योग का निरूपण करके तथा अर्जुन के मोह को दूर कर भक्ति सुधा पानक की रचना की।

प्रभु चरणों ने गीता तात्पर्य ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में धृतराष्ट्र वाक्य के उपक्रम पर विचार किया है। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना तत्व अर्जुन को दिया है, अतः धृतराष्ट्र का वचन उचित नहीं है, क्योंकि धृतराष्ट्र अभक्त है और न दुर्योधन ही यहाँ अपेक्षित है क्योंकि वह अत्यन्त बहिर्मुख है और राक्षसावतार भी। यहाँ ब्रह्म विद्या का उपदेश भी कुछ मानते हैं। शान्त अधिकारी सनत्कुमार नारद संवाद में 'सोऽहं भगवतः शोचामि' 'मैं भगवान् का शोक करता हूँ' इस वाक्य में नारद का शोक श्रवण है अतः यह भी मानना उचित नहीं है। वहाँ शोक का अर्थ आत्मज्ञान है। 'पाप भीति कथन से इसकी विलक्षणता स्पष्ट है। पार्थ में आत्मज्ञान जानने की इच्छा भी नहीं देखी गई है। यदि यह मानें कि यहाँ उपदेष्टा भगवान् सत्य संकल्प हैं और वे अर्जुन के उद्धार के लिये आत्म-विद्या का उपदेश दे रहे हैं तो अर्जुन भी राज्य और संसार से विरक्त हो जायगा। परन्तु ऐसा तो देखने में नहीं आता। अतः फल में दोष आने के कारण यह उपदेश ब्रह्म विद्या पर कभी नहीं माना जा सकता।

यहाँ हमारा कथन यह है कि पांडवों को भगवान् ने अपने भक्ति मार्ग में स्वीकार कर लिया था। तृतीय स्कन्ध में विदुर का वाक्य भी है—'भगवान् मुकुन्द ने पार्थों को अंगीकार किया।' (३।७।१२) भगवान् ने भूभार हरण के लिये युधिष्ठिर से राजसूय यज्ञ भी कराया था। महाभारत युद्ध राजसूय यज्ञ के पश्चात् हुआ था। यह भी भगवदिच्छा विषयक था—यह दशम स्कन्ध में उद्धव ने कहा है—

विपाक परिणाम से आपको यज्ञ अभीष्ट है।'

यदि यह कहा जाय कि युधिष्ठिरादि द्वारा भगवान् ने धर्म का उपस्थापन किया जैसा कि 'यदा यदा हि धर्मस्य' वाक्य में सुस्पष्ट करेंगे तो धर्म रक्षार्थ भगवान् का अवतार भी सिद्ध होता है। यह धर्म रक्षा भी युधिष्ठिर के राज्य द्वारा ही है क्योंकि राज्यान्त में तो नरक मिलता है। और भ्राता भी भ्राताओं को मारे इस न्याय से साधारण लोक की भाँति शत्रुओं को मारकर स्वयं राज्य करें तो राज्य में भगवान् के सम्बन्ध का अभाव है। उनके भोग में भगवत्ता नहीं होगी तो दुष्ट फल होगा। इसकी निवृत्ति के लिये ही भगवान् ने पार्थ को आगे बतलाये जाने वाला

न्मारयित्वा स्वयं चेद्राज्यं कुर्युस्तदा राज्ये भगवत्संबंधाभावात्तद्भोगे भगवदीयत्वं न भवेत् दुष्टं च फलं भवेदतस्तन्निवृत्यर्थं भगवान् पार्थस्य वक्ष्यमाणप्रकारकं विषादमुत्पादितवान्। अतएव पार्थस्य स्वतो युद्धान्निवृत्तिरुक्ता। तेन तेषु लौकिकरीत्यनुभाव उक्तो भवति। अन्यथा क्षत्रियाणामयं धर्म इति वचनाच्छूराणां तेषां युद्धोपस्थितौ। वस्तुस्वभावाद्वीररस एवोत्पद्येत धार्तराष्ट्रादिवत्। न तु वैराग्यम्। अतः पार्थे तदुत्पत्तौ भगवदीयत्वमेव हेतुरिति निश्चयः अतस्तादृश भक्तिमार्गस्यैवोपदेष्टव्यत्वात्। भक्ति मार्गः निर्णयस्य च लोकवेदसाधारणरीत्या कर्तुमयुक्त्वं बोधयितुमादौ धृतराष्ट्रतत्पुत्रयोः कथा उक्ताः तथा तदुत्साह उक्तो भवति।

किं च भगवदीयस्य भगवच्चिकीर्षित कार्योन्मुखी मतिः सुमतिस्तद्विरुद्धा मतिः कुमतिरेव। अन्यथा धर्मशास्त्रादिषु गुर्वादिहननस्य निषिद्धत्वात्तन्निवर्त्तिका मतिः कुमतिस्तेन नोच्येत। न चात्र मानाभावः।

व्यवहितपृतना मुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोष बुद्धया।
'कुमतिमहरदात्म विद्यया'......................॥(भा.१।९।३६)

इति प्रथम स्कन्ध भीष्मवाक्यात्। एतेन यद्ब्रह्मविद्योपदेशे विषण्णाधिकार बोधनार्थमर्जुनविषादग्रन्थ इति कैश्चिदिष्यते तदपि फल्गु कृतम्। तस्य मुख्य प्रयोजनाभावात् अत्र भक्तिमार्गमर्यादायाः लोकवेदातीतत्वज्ञापनस्यैव प्रयोजनत्वादिति अतएव समाप्तौ फाल्गुनेन—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव' इत्युक्तम्॥ (गीता १८।७३)

अतोऽमुख्यतया भक्तेरेवोपदेशः यत्पुनरन्यत्तत्सर्वं तस्यैव शेषभूतमितिदिक्।

अतः परं वाक्यानि व्याख्यायन्ते। तत्र पुष्टिमर्यादाभक्तिरनुग्रहाद्विधिश्रेयोद्वारेण भवतीति बोधनाय पांडवानां धर्मिष्ठत्वमर्जुनस्य तेभ्योऽप्युत्कर्षं वदद्भिर्व्यासचरणैरर्जुने भजनोपदेशाधिकारद्वयं वक्तुं प्रथमेऽध्यायेऽर्जुनस्यार्तित्वं प्रतिपाद्यते।

भक्तिमार्गीयस्यापि लौकिकाभिनिविष्ट चित्ततायां प्रवृत्तिधर्मभिनिविष्ट

विषाद उत्पन्न किया । अतः पार्थ की युद्ध से निवृत्ति स्वतः ही सिद्ध हो जाती है । इसीलिये लौकिक रीति से उनमें अनुभाव कहा है अन्यथा 'क्षत्रियों का यह धर्म है' इस वचन से 'शूरों का युद्ध उपस्थित' में स्वतः एव वीर रस उत्पन्न होगा जैसे कि दुर्योधनादि को है । वैराग्य नहीं । पार्थ में वैराग्य उत्पन्न है, इसमें भगवदीय ही हेतु है, यह निश्चय है । अतः ऐसे भक्त को भक्ति मार्ग का उपदेश देना उचित है । भक्ति मार्ग और उसका निर्णय लोक वेद की साधारण रीति से नहीं किया जा सकता । इसे बतलाने के लिये प्रथम धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों की कथारंभ की ओर उनका उत्साह भी व्यक्त किया ।

भगवदीय की भगवान् के इच्छित कार्य में मति ही सुमति है, तद्विरुद्ध कुमति है । अन्यथा धर्मशास्त्रादि में गुरु आदि की हत्या निषिद्ध है । तन्निवर्तक मति कुमति कहलायगी । यहाँ कोई प्रमाणाभाव नहीं है । प्रथम स्कन्ध में भीष्म का वाक्य है— 'व्यवहित' जिसने स्वजनवध से विमुख अर्जुन की कुमति को आत्मविद्या से हर लिया । इससे जिस ब्रह्म विद्या के उपदेश में विषण्ण अधिकार बोधन के लिये अर्जुन विषाद वन्ध कहा गया है, यह भी तुच्छ है । उसके मुख्य प्रयोजन का अभाव है । यहाँ तो भक्ति मार्ग मर्यादा को लोकवेद से भी श्रेष्ठ बतलाना ही प्रयोजन है । अतएव समाप्ति में अर्जुन ने कहा—

मोह नष्ट हुआ, स्मृति प्राप्त करली, संदेह दूर हो गया । अच्युत ! अब आपके आदेश का पालन करूंगा ।

(गीता १८।७३) ।।

अतः यहाँ मुख्यतया भक्ति का ही उपदेश है । केवल भक्ति का ही विस्तार है ।

अब वाक्यों की व्याख्या करते हैं—

पुष्टि मर्यादा भक्ति अनुग्रह से एवं विविध श्रेयद्वार से ही होती है, इसे बोध कराने के लिये पांडवों की धर्म में स्थिति और अर्जुन की उनमें भी विशेष स्थिति बतलाते हुए श्री व्यास ने अर्जुन के भजनोपदेश में दो अधिकार व्यक्त करने के लिये प्रथम अध्याय में अर्जुन के आर्तत्व का प्रतिपादन किया है । भक्तिमार्गीय का भी, जिसका चित्त लोक में अभिनिविष्ट हो, प्रवृत्ति धर्म में अभिनिविष्ट चित्तता में भी भगवत्तत्व और भक्ति मार्ग तत्व सहसा उपदेश योग्य नहीं है, ऐसा बोध होता है ।

यह उपोद्घात की संगति हुई ।

चित्ततायां च भगवत्तत्वं भक्तिमार्गतत्वं च सहसा नोपदेष्टव्यमिति च बोध्यत इत्युपोद्घात संगतिः ।

वैशंपायनस्तु जनमेजयाय कथासंगति वक्तुं प्रथमतो धृतराष्ट्रसंवादमाह ।

तत्र धृतराष्ट्रो बहुधा पांडवान् धर्मपरानेवावगत्य वधलक्षणमधर्मं कथं कृतवन्त इत्यभिप्रेत्य पृच्छति ।

अत्रह्येवं कथा प्रकारः ॥

* * *

वैशंपायन जी जनमेजय से कथा कह रहे हैं अतः उसकी संगति के लिये प्रथम धृतराष्ट्र संवाद प्रस्तुत करते हैं।

धृतराष्ट्र पांडवों को धर्म परायण ही मानता था, अतः इन्होंने अधर्म कैसे किया इस अभिप्राय से यह प्रश्न करता है।

यह कथा प्रकार है।

~

15/8/89

* श्रीकृष्णाय नमः *

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

संजय आगत्य पूर्वं सेनापतिमरणं वक्ति। ततो धृतराष्ट्रेण तत्परिदेवने पश्चात्तन्निवृत्तौ सर्वां कथां विस्तारेण वदतीति।

तत्र पांडवानां स्वल्पं सैन्यं स्वस्य तु महत्। स्वस्य शूराश्च भूयांसस्तेषा मेव पश्यतां तैरुपेक्षितो भीष्मो रणे पतितः उत पांडवैः प्रसह्यमारितः त्र तादृशे क्षेत्रे पितामहावज्ञालक्षणमधर्मं कथं कृतवन्त इति ज्ञातुं।

हे संजय धर्मक्षेत्रे धर्मोत्पत्तिभूमौ कुरुक्षेत्रे। मामकाः मत्पुत्राः। पांडवाः श्च युयुत्सवो योद्धुकामाः। समवेताः मिलिताः। किमकुर्वत किं ः।

स्वपुत्राणामधर्मपरायणत्वाद्धर्मक्षेत्रेऽप्यधर्ममेव कृतवंतः किंवा धर्ममिति ां प्रश्नः। पांडवाश्च धर्मपरायणास्तत्र धर्मक्षेत्रे द्रोणादीन् गुरून् कथं ंत इति तेषां प्रश्नः।

मेव चकारेण द्योतितं यत्तेषां धर्मपरायणत्वं तथा पैकमरणे नैवान्यत्स्य रिति निश्चित्यापि किं कृतवंत इत्यर्थः।
रप्रज्ञात्सर्वज्ञत्वमालक्ष्य संबोधनम् ॥१॥

य ने आकर पहले सेनापति के मरण की सूचना दी। तब धृतराष्ट्र ने दुःख । दुःख से निवृत्त होने के पश्चात्, संजय ने युद्ध की सम्पूर्ण कथा का र वर्णन किया।

में पांडवों की सेना थोड़ी है और अपनी सेना अधिक है। अपने शूर भी न सबके देखते हुए तथा इनकी उपेक्षा करते हुए भीष्म रण में गिर पांडवों ने उन्हें बल पूर्वक मार दिया। पांडवों ने ऐसे (पवित्र) क्षेत्र में प्रति अवज्ञारूपी अधर्म को कैसे किया—इसे जानने की इच्छा से संजय से प्रश्न किया।

त—धर्म की उत्पत्ति भूमि कुरुक्षेत्र में मेरे तथा पांडु के पुत्रों ने, जो ा से इकट्ठे हुए थे, वहाँ क्या किया ?

धृतराष्ट्र को शंका है। मेरे पुत्र अधर्म परायण हैं अतः उन्होंने धर्मक्षेत्र में भी अधर्म किया या धर्म ? यह प्रश्न अपनों के संबंध में किया। पांडव धर्म परायण हैं अतः उन्होंने धर्मक्षेत्र में द्रोणादि गुरुओं को कैसे मारा ? यह पांडवों के संबंध में प्रश्न किया।

चकार वर्ण द्वारा इसी बात को प्रकट किया है क्योंकि पांडव तो धर्म परायण थे।

एक के मरण से दूसरे को राज्य मिलना निश्चित समझ कर भी उन्होंने क्या किया ? संजय को दिव्य दृष्टि का वर मिल चुका है। वह सर्वज्ञ है अर्थात् सब कुछ जानता है इसी लक्ष्य में रखते हुए संजय को संबोधित किया गया है[1] ॥१॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजावचनमब्रवीत् ॥२॥

संजयस्तु नायमधर्मो भगवता कर्तव्यत्वेन बोधनादितिवक्तुं तदर्थं संगतिमाह दृष्ट्वेत्याद्यष्टादशश्लोकैः।

तत्र च धृतराष्ट्रवाक्यं श्रुत्वा संजयः पूर्वपृष्टत्वात्तत्पुत्र कथामेवाह पूर्वं दृष्टत्वात्विति।

---

[1] शंकराचार्य ने धृतराष्ट्र के प्रश्न पर कुछ भी नहीं लिखा। इनके भाष्यकार आनन्दगिरि ने धृतराष्ट्र को प्रज्ञाचक्षु लिखा है और संजय को हितोपदेष्टा।

श्रीमधुसूदन ने धृतराष्ट्र वाक्य वैशंपायन की उक्ति माना है और यहाँ प्रश्न में दृष्टभय तथा अदृष्टभय माने हैं। भीम अर्जुन सम्बन्ध से कदाचित् युद्ध न हुआ हो यह दृष्टभय तथा धर्म का क्षेत्र है यह अदृष्टभय है।

कुछ विद्वानों का मत है कि युद्ध में भीष्म पितामह जब पराजित हो गये तब संजय धृतराष्ट्र के पास आया और भीष्म के पतन का संवाद सुनाया। भीष्म दस दिन रण स्थल में सेनापति रहे थे अतः धृतराष्ट्र संजय का संवाद युद्ध के दस दिन बाद हुआ। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि धृतराष्ट्र ने इस निमित्त ही प्रश्न किया था। कदाचित् भीष्म की पराजय से दोनों पक्ष युद्ध से निवृत्त हो गये हों या एक की विजय हो गई हो।

—भाष्योत्कर्ष दीपिका

राजा दुर्योधनः व्यूढं व्यूहरचनया स्थितं पांडवसैन्यं दृष्ट्वा द्रोणाचार्यमुपसंगम्य निकटे गत्वाऽऽचार्यं वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीदुवाच।

तदा धर्मयुद्धोपस्थितिकालइत्यर्थः एतेनापराधित्वेपि धार्तराष्ट्र एव युद्धे प्रथमं प्रवृत्त इति दशभिस्तत्कथा कथनेन बोधितम् ॥२॥

संजय का मत है कि यह अधर्म नहीं है क्योंकि इसमें भगवत् प्रेरणा है अतः वह इसकी संगति 'दृष्ट्वा तु' इत्यादि अठारह श्लोकों द्वारा बतलाता है।

धृतराष्ट्र के वाक्य सुनकर संजय पूर्व प्रश्न के उत्तर में उनके पुत्रों की कथा ही प्रथम कहता है।

राजा दुर्योधन पांडव सेना की व्यूह रचना देखकर द्रोणाचार्य के समीप गया और कहने लगा[1]।

यहाँ 'तदा' का अर्थ है धर्म युद्ध की उपस्थिति में। इतना अपराध करने में भी धृतराष्ट्र के पुत्र ही प्रथम प्रवृत्त हुए हैं, यह बात उसने आगे के दस श्लोकों द्वारा व्यक्त की है ॥२॥

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

तद्वाक्यमेवाह। पश्येत्यादि नवभिः। तत्र भीष्मस्याभिषिक्तत्वात्स्वबलएवोत्साहः। द्रोणस्योदासीन्यमालक्ष्य प्रोत्साहयति परोत्कर्षवर्णनैः एतां निकटस्थां युधिष्ठिरस्य राजत्वाभावादविशेषेण पांडुपुत्राणामित्युक्तम्।

हे आचार्य ! यद्यपि त्वमुभयोः समस्तथापि तेषां सेनायाः प्रबलत्वादस्मत्पक्षपातं कुर्वित्यतः संबोधनं पांडुपुत्राणां महतीं स्वभयजनिकां चमूं धीमता व्यूहरचनाकुशलिना द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन व्यूढां व्यूहरचनया समाजितां पश्य।

तव शिष्येणेति विशेषणेन स्वस्य भयजनकस्यसामर्थ्यं द्योतितं तस्य भयाभावः ॥३॥

---

[1]. यद्यपि राजा दुर्योधन द्रोणाचार्य को अपने समीप बुलवा सकता था, किन्तु स्वयं जाकर उसने अपनी राजनीति कुशलता का परिचय दिया है। इससे उसका भय भी व्यक्त होता है। अर्जुन के उपस्थित भय को भगवान् ने दूर किया अतः पांडवों के भयाभाव का द्योतक 'तु' शब्द है।

—भाष्योत्कर्ष दीपिका।

इस सम्बन्ध में इसने 'पश्य' इत्यादि नौ श्लोकों द्वारा कथन किया है । भीष्म का अभिषेक हुआ था अतः उत्साह तो स्वतः था ही । द्रोणाचार्य को उदासीन देखकर शत्रुओं के उत्कर्ष वर्णन द्वारा उन्हें उत्साहित करता हुआ दुर्योधन कहता है —

अपने समीप ही स्थित इन पांडु पुत्रों की सेना को देखिये ।

यहाँ केवल युधिष्ठिर को ही राज्य प्राप्ति नहीं है, अपितु पांडवों को भी है, अतः 'पांडुपुत्राणां' पद रखा गया है ।

हे आचार्य ! यद्यपि आप दोनों के समान गुरु हैं तथापि उनकी सेना प्रबल है अतः आप हमारा पक्ष लें । यहाँ आचार्य सम्बोधन है । पांडु पुत्रों की विशाल और भय जनक सेना को, जिसे व्यूह रचना के शिल्पी बुद्धिमान् द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ने व्यूह रचना से व्यवस्थित किया है, उसे आप देखिये ।

'तव शिष्येण' पद से कौरवों को भय एवं पांडवों को भय का अभाव प्रदर्शित किया गया है[1] ।।३।।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।।४।।

एवं सेनां दर्शयित्वा तस्याः प्रबलत्वमुद्भावनाय तत्स्थितान् शूरान् वर्णयति ।

अत्रेति । अत्र अस्यां सेनायां इषवो अस्यन्ते एभिरितीष्वासाश्चापाः । महान्त इष्वासा येषां ते महेष्वासाः । शूरा महेष्वासा इति पदद्वयेन स्वतः शिक्षातश्च सामर्थ्यं दर्शितम् । युधि संग्रामे भीमार्जुनसमाः शूराः संति । भीमार्जुनावतिबलाविति तत्समत्वेन गणिताः । युधीतिपदेनान्यत्र न तत्समा दानादिष्वित्यर्थः ।।४।।

---

[1] द्रोणाचार्य का पूर्व वैर द्रुपद से था । अतः उसकी स्मृति कराने के लिये दुर्योधन ने द्रुपद का नाम लिया है ।

—नीलकंठ

यहाँ 'धीमता' शब्द साभिप्राय है । द्रुपद पुत्र द्रोणाचार्य के वध के लिये उत्पन्न हुआ है, फिर भी द्रोण ऐसे मूढ़ हैं कि उसे विद्या पढ़ा दी । द्रुपद पुत्र ने शत्रु से भी विद्या ग्रहण की अतः वह धीमान् है ।

—मधु सूदन सरस्वती

इस प्रकार सेना दिखाकर उसकी प्रबलता को प्रकट करने के लिये इस सेना में स्थित शूरों का वर्णन किया गया है ।

अत्र आदि । इस सेना में चाप बाण फेंके जाते हैं, इस व्युत्पत्ति से 'इष्वास' का अर्थ चाप है । उनके चाप (धनुष) बड़े हैं अतः वे 'महेष्वास' कहलाते हैं । 'शूरा' और 'महेष्वासा' इन दो पदों से शिक्षा सामर्थ्य का प्रकाशन अपने आप हो जाता है । 'युधि' अर्थात् युद्ध में भीम और अर्जुन के समान शूर हैं । भीमार्जुन बलशाली हैं उनको समान गिना गया है अतः शूरवीरों की उपमा भी भीमार्जुन से दी है ; 'युधि' पद का अर्थ यह है कि योद्धागण युद्ध में ही समान हैं । दानादि में उनके समान नहीं हैं ।।४।।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ।।५।।
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।।६।।

तानेव गणयति युयुधान इत्यादिभिः । युयुधानः सात्यकिः, विराट् द्रौपदौ, राजानौ धृष्टकेतुप्रभृतयो । राजानोऽसंबद्धा अस्मच्छत्रवश्च । वीर्यवानिति प्रत्येकं सर्वेषां विशेषणं विक्रान्तः=अतिपराक्रमी, वीर्यवानिति सौभद्रविशेषणम् । द्रौपदेयाः पंचप्रतिविन्ध्यादयः । सर्वे एव महारथाः । महारथ लक्षणं च-

एकोदशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्र प्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ।।
अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोतिरथस्तु सः ।
रथीचैकेन यो योद्धातन्न्यूनोर्द्ध रथस्मृतः ।।

इत्यादि ।।५-६।।

योद्धाओं के नाम निर्देश 'युयुधान' इत्यादि से किये गये हैं । युयुधान=सात्यकि, विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु आदि राजाओं के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है । ये हमारे शत्रु ही हैं । वीर्यवान् यह प्रत्येक का विशेषण है । विक्रान्त वीर्यवान यह सौभद्र का विशेषण है ।

द्रौपदी के प्रतिविन्ध्यादि पाँच पुत्र थे । वे सभी महारथी थे ।

जो दशसहस्र धनुर्धरों का वध करे, शस्त्र शास्त्र में चतुर हो वह महारथी[1] कहलाता है।

अतिरथी वह है जो अगणित योद्धाओं का विनाश करे।

रथी वह है जो अकेले ही लड़े।

अर्द्धरथी वह होता है जो उससे कम हो ॥५,६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

एवं तत्सैनिकानवत्वा स्वीयानाह प्रोत्साहनार्थं। अस्माकमित्यादिभिः। अस्माकं ये विशिष्टाः महान्तस्तान्निबोध बुध्यस्व द्विजोत्तमेति विस्मृति संभावनया संबोधनं मम सैन्यस्य नायकाः नेतारः। तान्संज्ञानार्थं मया विशेषेण स्वरूपतो ज्ञायन्ते तवेति ते ब्रवीमि ॥७॥

इस प्रकार पांडवों के सैनिकों का परिचय देकर अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करने के लिये दुर्योधन ने कहा —

हमारे जो विशिष्ट योद्धा हैं उन्हें समझें। यहां द्विजोत्तम संबोधन विस्मृति संभावना के कारण है। अपनी सेना के नायकों को मैं विशेष रूप से जानता हूं या नहीं, अतः आप से कहता हूं ॥७॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

एव त्रिज्ञाप्य तन्नामान्याह। भवानिति द्वाभ्याम्। भवान्द्रोणः सर्वेषामाचार्योऽस्माकं मुख्यः। त्वया कार्यार्थमन्ये प्रेर्याः उभयोर्द्रोणसामर्थ्यमिति वाक्यात् परमबलीति पूर्वं गणितः। भीष्मश्च तथैव मुख्यः। चकारेण

क्षत्रियत्वात् शापसामर्थ्याभावमाशंक्यपितामहत्वात् शापसामर्थ्यं ज्ञाप्यते। कर्णस्याप्यर्द्धरथिषु गणनात्स दुःखितो भविष्यतीति सोपि मुख्यत्वेन गणितः। इदमेव चकारेण गृह्यते। कृपाचार्योऽपि तथा एते सर्वेपि समितिंजयाः संग्रामजेतारः भिन्नतया सर्वेषां विशेषणम्। अश्वत्थामा स्वसुतः विकर्णश्च, सौमदत्तिः भूरिश्रवाः। तथेति यथा भवदादयस्तुल्या अप्यस्मत्पक्षपातिनस्तथैव सौमदत्तिरित्यर्थः यद्वा। तथैवेत्युत्तरत्र योज्यम् ॥८॥

भगवान् आदि दो श्लोकों से उनके नाम बतलाते हैं। हमारे सबके स्वयं आचार्य द्रोण मुख्य हैं। द्रोणाचार्य अन्यों के प्रेरक भी हैं। द्रोणाचार्य की 'शापादपि शरादपि' उभयविध सामर्थ्य है, अतः परमबलशाली का प्रथम उल्लेख है और भीष्म भी उसी प्रकार मुख्य हैं।

चकार से क्षत्रियत्व कहा गया है। फलतः शाप देने की उनमें शक्ति नहीं है।

पितामह पद से शाप सामर्थ्य का संकेत संभाव्य था। कर्ण अर्द्धरथियों में गिनने से दुखी होगा अतः वह भी मुख्य रूप से गिना गया है।

कृपाचार्य भी वैसे ही हैं। ये भी चकार शब्द से ग्रहण किये गये हैं एवं अन्य लोग भी संग्राम विजेता हैं। वैसे यह 'समितिजय' पद सबका विशेषण है।[1]

अश्वथामा (आपका पुत्र), विकर्ण,[2] सौमदत्ति=भूरिश्रवा[3]। जिस प्रकार आप लोग हमारे पक्षपाती हैं उसी प्रकार भूरिश्रवा भी है अथवा तथैव यह उत्तर से संबंधित है ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

अन्ये चैतादृशा बहवः शूरा मदर्थे मत्कार्यार्थे त्यक्तं जीवितं यैः तादृशा जीवितार्थां परित्यज्य मत्कार्यं कर्तुं कृतनिश्चया इत्यर्थः। यद्वा आदि कर्मणि क्तः। त्यक्ष्यमाण जीविता इत्यर्थः।

---

[1] महारथ विशेषण :—युयुधान, विराट, द्रुपद के लिये।
वीर्यवान् " :—धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज के लिये।
नरपुंगव " :—पुरुजित् कुन्तिभोज, शैब्य के लिये। अथवा सब विशेषण सब के लिये।

---

[1] कृपाचार्य का नाम कर्ण के बाद आया है अतः समितिजयः विशेषण दिया जिससे कृप अप्रसन्न न हों।

[2] दुर्योधन का छोटा भाई।

[3] सौमदत्ति=शान्तनु के बड़े भाई बाह्लीक के पौत्र थे।

नाना शस्त्राणि प्रहरणसाधनानि येषां ते युद्धे विशारदाः अतिनिपुणाः ॥९॥

इस प्रकार के अन्य अनेक शूरवीर मेरे लिये जीवन को त्यागकर जीविताशा परित्याग कर मेरा कार्य करने का निश्चय करके आये हैं। अथवा आदि कर्म में क्त प्रत्यय है। इसका अर्थ होगा 'जीवन छोड़ने की आशा से'। जिनके पास अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र हैं और जो युद्ध में विशारद हैं—अत्यन्त निपुण हैं ॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १०॥

एवं सर्वाननुक्त्वा तद्रक्षितमप्यस्मद्बलं तद्बलयुद्धासमर्थं ममाभातीत्याह । अपर्याप्तमिति । भीष्माभिरक्षितमप्यस्माकं बलं अपर्याप्तं तैः सहयोद्धुमसमर्थं भाति । द्रोणः कदाचित् कुप्येदिति भीष्माभिरक्षितमेवोक्तम् । पांडवानां च बलमस्माभिर्योद्धुं समर्थं भातीत्याह । पर्याप्तमिति । इदं तेषां पांडवानां बलं भीमेनाभितः सर्वतो रक्षितं सत् पर्याप्तं समर्थं प्रविभाति । तु शब्देनापर्याप्त पक्षो निराकृतः । यद्वा । तत्प्रसिद्धमस्माकं बलं अपर्याप्त अत्यधिकं किं च । भीष्मेणाभितो रक्षितम् । तेषां तु बलं शूर भूयिष्ठमपि पर्याप्तम् । अक्षौहिणी सप्तकमितत्वात् ॥ १० ॥

इस प्रकार सबके नामों का उल्लेख कर इनके द्वारा रक्षित हमारा बल भी इनकी सेना के बल के समान नहीं है। अतः कहता है—अपर्याप्तमिति।

भीष्म के द्वारा रक्षित हमारा बल अपर्याप्त है अर्थात् पांडवों की सेना से युद्ध करने में असमर्थ है।

यहां भीष्म का उल्लेख इसलिये किया है कि कहीं द्रोणाचार्य अप्रसन्न न हो जायें। पांडवों की सेना पर्याप्त है अर्थात् हमसे युद्ध कर सकती है। पांडवों की सेना भीम द्वारा रक्षित है—पर्याप्त समर्थ है। तु शब्द से अपर्याप्त पक्ष का निराकरण किया है। अथवा हमारी प्रसिद्ध सेना अपर्याप्त—अत्यधिक है क्योंकि इसकी रक्षा भीष्म कर रहे हैं। और पांडवों की सेना शूर भूयिष्ठ होने पर भी पर्याप्त है। पांडवों की सेना में कुल सात अक्षौहिणी सेना थी। अतः उसे पर्याप्त कहा है ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

किञ्च । भीष्मेनाभिरक्षितम् । एवं सति किं कर्त्तव्यमित्याकांक्षायामाह । अयनेषु चेति व्यूहप्रवेशमार्गेषु यथाभाग विभक्ताः । स्वस्थाने स्थिताः भवन्तः सर्व एव भीष्ममेवाभितः सर्वतः रक्षन्तु । यतोऽस्माकं बलं भीष्मरक्षितमेव च कारेण व्यूहप्रवेशमार्गात् परस्थानेऽपि स्थितेरिदमपिज्ञापितम् । एवकारेणास्मदादि रक्षा कार्येति ज्ञापितम् । हीति युक्तत्वम् ॥ ११ ॥

क्योंकि भीष्म द्वारा रक्षित है अतः क्या करना चाहिये इस आकांक्षा में कहा है 'अयनेषु'। व्यूह प्रवेश मार्गों में यथाभाग विभक्त होकर—अपने स्थान पर स्थित होकर आप सब भीष्म की ही चारों ओर से रक्षा करें, क्योंकि हमारी सेना भीष्म रक्षित है। चकार पद से व्यूह प्रवेश मार्ग से पृथक् स्थिति को भी ज्ञापित किया है। एव पद से हमारी रक्षा भी करनी चाहिये यह व्यक्त किया है। 'हि' पद वाक्य पूर्ति के लिये है ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

सेनापतिरेव रक्षणीय इत्येवं स्वबहुमानप्रतिपादकं राजवाक्यं श्रुत्वा राज्ञो हर्षं मुपजनयन् भीष्मः स्वबलख्यापकं शंखनादं कृतवानित्याह । तस्येति । तस्य राज्ञः हर्षं सम्यक् प्रकारेण यास्यामि इत्यादिरूपेण जनयन् भीष्मस्य भक्तत्वात् स्वपराजयज्ञानेन स्वतो हर्षेण न शंखादिवादनं किन्तु दुर्योधनस्य वाक्यं श्रुत्वा भगवदिच्छां ज्ञात्वा तस्य राज्ञः हर्षजननार्थं तथा कृतवानिति बोधयितुमेवमुक्तम् । कुरुवृद्धः कुरूणां कुरुषु वा वृद्धः । देशकालोचितज्ञानः पितामह इति हर्षजनने हेतुरुक्तः । भीष्मः उच्चैरूर्ध्वमुखं यथास्यात्तथा महान्तं वा सिंहनादं विनद्य स्वप्रौढिज्ञापकं गर्जनं कृत्वा प्रतिभटः कोपि नास्तीति ज्ञापयन् शंखं दध्मौ वादितवान् । ननु राज्ञा बहुमाने कृतेऽपि राज्ञोऽग्रे तथाविनादं शंखादिवादनं च न कर्त्तव्यं तत्कथं कृतवानित्याशंक्याह । प्रतापवानिति नादेनैव शत्रुजयः सूच्यते ॥ १२ ॥

सेनापति की रक्षा होनी चाहिये,[1] इस प्रकार बहुमान पूर्वक राजा दुर्योधन के वचनों को सुनकर राजा को हर्ष पैदा करने के लिये भीष्म ने अपने बल को व्यक्त करते हुए शंखनाद किया । राजा को हर्षित किया अर्थात् मैं अच्छी भांति संग्राम करूँगा इसका विश्वास दिलाया । भीष्म भक्त हैं, उन्हें अपनी पराजय का ज्ञान है। अतः स्वतः हर्ष से शंखादि वादन नहीं किया, अपितु दुर्योधन के वचन सुनकर भगवान् की इच्छा जानकर राजा को हर्षित करने के लिये शंखनाद किया—यह बतलाने के लिये शंखनाद की बात कही है। कुरुओं में वृद्ध पितामह को देश और काल का ज्ञान है यही उनके हर्ष उत्पादन में हेतु है ।

भीष्म ने ऊँचा मुख कर महान् सिंहनाद किया और अपनी प्रौढ़ता के ज्ञापन के लिये गर्जन किया तथा मेरे समान और कोई योद्धा नहीं है यह बतलाने के लिये शंख बजाया ।

शंकाः—राजा ने भले ही भीष्म का मान किया, किन्तु उन्हें राजा के सामने गर्जना और शंखादि वादन करना उचित न था । वह क्यों किया, इस आशंका से कहा है—प्रतापवान् नाद से ही शत्रु पर विजय की सूचना देते हैं ॥१२॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

एवं सेनापतेर्युद्धोत्सवप्रवर्तकं शंखध्वनिमाकर्ण्य सर्वसावधानकरणार्थं वादका दुंदुभ्यादिवादनं कृतवन्त इत्याह । तत इति सहसा तच्छ्रवणएव शंखाः भेर्यश्च पणवा आनकाः गोमुखाः अभ्यहन्यंत वादिता इत्यर्थः । एवकारेण तच्छ्रवणादेव वादितवन्तो न तु युद्धोपस्थित्या स्वशौर्याविर्भावेनेति व्यज्यते स शंखादिशब्दस्तुमुलो महानासीत् ॥ १३ ॥

---

[1] दुर्योधन का भाव था कि शिखंडी से भीष्म की रक्षा की जाय । शिखंडी पहले स्त्री था बाद में पुरुष । भीष्म स्त्री पर हाथ छोड़ना नहीं चाहते थे, अतः उनकी रक्षा आवश्यक थी ।

इस प्रकार सेनापति के युद्धोत्सव में प्रवर्तक शंख ध्वनि को सुनकर सब को सावधान करने के लिये वादकों ने दुंदुभी बजाई । सहसा ही शंख ध्वनि के साथ अन्य शंख, भेरी, पणव, गोमुख बजाये गये । 'एव' कार से उसके 'श्रवण के साथ ही बजाये गये' युद्धारम्भ के समय के नहीं । उससे उनके शौर्य का प्रकाशन होता था, उसके शंखादि का शब्द तुमुल—महान् था ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्त महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

एवं युद्धोत्सवज्ञापक शंखध्वनिश्रवणानन्तरं पांडवसैन्येपि युद्धोत्सवोऽभूदित्याह तत इति पंचभिः । ततः कौरवप्रवृत्त्यनन्तरं श्वेतैर्हयैः शुभसूचकैर्युक्ते परमेश्वरस्य सारथित्व प्रतिपादनाय भगवतोऽश्वानां च वर्णनं नायं भगवद्रथ इति ज्ञापनाय च भगवतोऽश्वानां चित्रवर्णत्वादत्र श्वेतैरिति हयविशेषणं; युद्धप्रवृत्तिज्ञापनार्थं हयैर्युक्त इति । महति अग्निदत्ते भगवत्स्थितियोग्ये गरुडसमे स्यंदने नंदिघोषाख्ये रथे स्थितौ । श्रीकृष्णार्जुनौ दिव्यौ शंखौ । प्रदध्मतुः वादितवंतौ । माधवपदेन तेषां शीघ्रमेव । लक्ष्मीप्राप्तिर्भविष्यति इति व्यंजितम् । पांडवस्योक्त्या तेषां न्यायत्वमुक्तम् ।

भगवतः शंखध्वनिः सर्वेषां यथा दर्पघ्नस्तथैवार्जुनस्यापीति चकारेणैवकारेणापि व्यज्यते ॥१४॥

युद्धोत्सव को ज्ञापित कराने वाली शंखध्वनि सुनने के पश्चात् पांडवों की सेना में भी युद्धोत्सव मनाया गया । पांच श्लोकों में इसका वर्णन किया गया है ।

कौरव प्रवृत्ति के अनन्तर श्वेत घोड़ों से युक्त रथ में, (यहां श्वेत शुभ सूचक है । परमेश्वर का सारथित्व प्रतिपादन करने के लिये है, क्योंकि भगवान् के घोड़ों का वर्ण चित्र है[1] । यहां श्वेत घोड़े हैं ।) युद्ध-प्रवृत्ति ज्ञापन के लिये अयुक्त कहा है ।

अग्नि द्वारा प्रदत्त भगवत् स्थिति योग्य गरुड सम रथ जिसे 'नंदिघोष' कहते हैं, उसमें स्थित कृष्ण-अर्जुन ने दिव्य शंख बजाये ।

---

[1] ये अश्व चित्ररथ के दिये हुए थे । ये स्वर्ग तथा पृथ्वी में समान चलते थे । संख्या में सौ ही रहते थे, चाहे कितने ही मर जायें ।

माधव पद से उनको शीघ्र ही लक्ष्मी प्राप्त होगी यह व्यंजित किया है।

पांडवत्व की उक्ति से उनका न्याय पथ में रहना बतलाया है।

भगवान् की शंखध्वनि जिस प्रकार सबके दर्प का नाश करने वाली है, उसी प्रकार अर्जुन के दर्प का भी शमन करने वाली है। यहां चैव शब्द इसी बात को प्रकट करने के लिये रखा गया है ॥१४॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्णादिशंखानां महत्त्वज्ञापनार्थं नामान्याह।

पांचजन्यमित्यादिद्वयेन पांचजन्यं हृषीकेशो वादितवान्। पांचजन्यादीनि तत्तच्छंखानां नामानि शंखमाहात्म्यज्ञापनार्थं उक्तानि। पंचजनदैत्यप्रभवत्वात्पांचजन्यः। देवदत्तमग्निदत्तं। पौंड्रादयोपि तत्तद्गुणविशिष्टास्तत्तदुपाख्यानैरवगन्तव्याः। सर्वेषामिन्द्रियप्रवर्त्तकस्य युद्धप्रवृत्तौ सर्वेन्द्रियाणि स्वतएव प्रवर्त्तेरन्निति हृषीकेश इत्युक्तम्।

धनंजयः देवदत्तं वादितवान्। धनंजयोऽस्य जये यस्येति वा। पौंड्रं महाशंखं स्वरूपतो गुरुतरं भीमकर्मा भयानककर्मकर्त्ता वृकोदरो भीमसेनो दध्मौ वादितवान्।

भक्तिर्ज्ञानं सवैराग्यं प्रज्ञा मेधा धृतिः स्थितिः।
योगः प्राणो बलं चैव वृकोदर इति स्मृतः॥
एतद्दशात्मको वायुस्तस्माद्भीमस्तदात्मकः। इति ॥१५॥

श्रीकृष्ण एवं अर्जुनादि के शंखों का महत्व बताने के लिये पांचजन्य इत्यादि दो श्लोकों से उनका नाम निर्देश किया है।

पांचजन्य को हृषीकेश ने बजाया।

पंचजन दैत्य से उत्पन्न होने के कारण इस शंख का नाम पांचजन्य था। अग्नि द्वारा प्रदत्त शंख का नाम देवदत्त था। पौण्ड्रादिकों को प्राप्त शंख भी उन-उन उपाख्यानों से जानने चाहिये।

हृषीकेश पद सार्थक है। सब की इन्द्रियों का प्रवर्तक युद्ध में प्रवृत्त है अतः सम्पूर्ण इन्द्रियां स्वतः ही प्रवृत्त होंगी। इसीलिये यहां हृषीकेश पद रखा गया है।

धनंजय=अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख को बजाया। इसकी जय में धन की जय है अतः इसे धनंजय कहते हैं। यह भी व्युत्पत्ति है।

पौण्ड्र महाशंख को, जो स्वरूप से भी विशाल था, भयानक कर्मकर्त्ता भीमसेन ने बजाया।

वृकोदर का अर्थ है :—

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, प्रज्ञा, मेधा, धृति, स्थिति, योग, प्राण, बल की समष्टि है ये 'दश' वायु स्वरूप हैं, भीमसेन तदात्मक है। फलतः उनका नाम वृकोदर है ॥ १५ ॥

अनंत विजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

अनंतानां विजयो येन तादृशं राजेति प्रवृत्तावावश्यकता वादितवान्। कीदृशो राजा कुन्तीपुत्रः। कुन्तीपुत्रेति तत्प्रेरितत्वं भगवत्कृपाधिकारित्वं च ज्ञापितम्।

युधिष्ठिर इति सार्थकनाम्ना सामर्थ्यं।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ वादयामासतुः ॥१६॥

जिससे अनन्तों की विजय हो ऐसे राजा की प्रवृत्ति में आवश्यकता बतलाई है। राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्त विजय' नामक शंख बजाया। राजा कुन्ती का पुत्र है इस शब्द कथन से भगवत्कृपा का अधिकारित्व सिद्ध किया है। युधिष्ठिर नाम सार्थक है क्योंकि युद्ध में स्थिर रहने वाला युधिष्ठिर होता है। नकुल सहदेव ने सुघोष-मणिपुष्पक नाम के शंख बजाये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रोपदेयाश्च सर्वशः पृथिवी पते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

एवं मुख्यानां नामानि तच्छंखानां चोक्त्वा तत्सनिकानां महतां सर्वेषां नामान्याह काश्यश्चेति द्वयेन।

काश्यः काशिराजः परमेष्वासः परमः श्रेष्ठः इष्वासोधनुर्यस्य। शिखंडी च महारथः शस्त्रशास्त्रप्रवीणः चकारेण परमेष्वासोऽपि। धृष्टद्युम्नादयो

गणिताः सर्वे तथा सौभद्रोऽभिमन्युः महाबाहुः परमयुद्धसमर्थः, पृथक् पृथक् भिन्नस्थाने स्थिताः। शंखान्दध्मुः। पृथिवीपत इति संबोधनं, धृतराष्ट्रस्य सर्वेषां स्वरूप ज्ञानार्थम् ॥१७ १८॥

इस प्रकार 'काश्यश्च' आदि दो श्लोकों से मुख्य योद्धाओं के नाम तथा उनके शंखों के नाम गिनाकर उसके सैनिकों के नाम गिनाये गये हैं।

काशिराज का धनुष श्रेष्ठ था, शिखंडी महारथ था अर्थात् शस्त्र-शास्त्र में प्रवीण था, तथा च पद से परम धनुर्धर भी। धृष्टद्युम्नादि के नाम तथा विराट्, सात्यकि, द्रुपद, द्रुपदपुत्र, सुभद्रा के पुत्र मूल में गिनाये गये हैं। सौभद्र=अभिमन्यु। महाबाहुः का अर्थ-परम युद्ध में समर्थ। ये सब पृथक् पृथक् स्थानों में स्थित हुए और शंख बजाने लगे। यहाँ धृतराष्ट्र को पृथिवीपति संबोधन सबके स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये किया है॥ १७,१८॥

स घोषोधार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

स शंखध्वनिस्तावकानां भयमुत्पादयामासेत्याह स इति। स पूर्वोक्तः पांचजन्यादिजन्मा घोषः शब्दः धार्तराष्ट्राणां हृदयानि विशेषेण दारितवान्। नभः आकाशं पृथिवीं च विशेषेण अनुनादयन् प्रतिध्वनयन् तथा कृतवान्। चकार द्वयेन नभः पृथिवीं व्यदारयदिति ज्ञापितम्। नभोविदारणं लोकोक्तिः। पृथिवीविदारणन्तु स्पष्टम्। विद्युन्महाशब्देन कूपादिविदारणस्य दर्शनात्। कीदृशः सः तुमुलो महान्। नभश्च पृथिवीं च अनुनादयन्। तुमुलो भूत्वा स घोषः धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयदिति वा। उत्साहभंगेन हृदये भयं जनयामासेत्यर्थः। एवं पांडवानां धर्मिष्ठत्वभक्तत्वयोर्बोधनार्थमष्टादशभिः संगतिरुक्ता ॥१९॥

उस शंखध्वनि ने तुम्हारे पुत्रों को भयभीत किया। स=पूर्वोक्त पांचजन्यादि से उत्पन्न घोष=शब्द, धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को विशेषतः चीरने लगा और आकाश-पृथिवी को विशेषतः प्रतिध्वनि युक्त करने लगा। चकार द्वय से नभ और पृथिवी को चीरना ज्ञापित है। 'नभो विदारण' यह लोकोक्ति है। पृथिवी का विदारण तो स्पष्ट है। विद्युत् के महाशब्द से कूपादि का फटना देखा भी जाता है। वह शब्द तुमुल=महान् था। नभ और पृथिवी को नादित किया था। तुमुल होकर वह शब्द धृतराष्ट्र पुत्रों के हृदय को विदीर्ण करने लगा। उत्साह भंग होने से भय उत्पन्न किया।

इस प्रकार पांडवों की धर्मिष्ठता और भक्तिरूपता १८ श्लोकों में कही गई है॥ १९॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदावाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

एवं कृष्णार्जुनसमागमनार्थं सेनाद्वयेपि युद्धोत्सवमुक्त्वा प्रेरित कृष्णार्जुन यंत्रणेन युद्धमध्ये प्रवृत्तस्य बन्धुनाशदर्शनेन वैराग्य वक्तुं अर्जुनस्य सहेतुकं कृष्णप्रेरणमाह। अथेति चतुर्भिः। तत्र प्रेरणे प्रथमं हेतुदर्शनमाह। अथ भिन्नक्रमेण भयाभावेन धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् विशेषेण अवगता स्थितिर्येषां तादृशान् दृष्ट्वा कपिध्वजोऽर्जुनः कपिध्वज इति शस्त्रलाघवं सूचितम्। शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते सति धनुरुद्यम्य पांडवः पांडोः पुत्रः स्वराज्याप्तिकाम्यया हृषीकेशं तथैवेन्द्रियप्रेरकं तदा तत्समये इदं वाक्यं वक्ष्यमाणमाह। महीपत इति संबोधनम्। राज्ञां तथैव धर्मं इति ज्ञापनार्थं। तद्वाक्यान्येवाह। सेनयोरित्यादिना हे अच्युत उभयोः सेनयोर्मध्ये रथं स्थापय ॥२०-२१॥

इस प्रकार कृष्ण अर्जुन के समागमन से दोनों सेनाओं में हुए युद्धोत्सव को बतलाया गया। इस प्रकार कृष्णार्जुन यंत्रण से युद्ध में प्रवृत्त बन्धुओं के नाश दर्शन से अर्जुन के वैराग्य को सहेतुक कृष्ण प्रेरित कहा है। यह 'अथ' इत्यादि चार श्लोकों में कहा गया है। इस प्रेरणा में प्रथम हेतु दर्शन है।

अथ भिन्न क्रम से भयाभाव पूर्वक धृतराष्ट्र के पुत्रों को विशेष रूप से अवस्थित देखकर कपिध्वज[1] अर्जुन (कपिध्वज पद से शस्त्रलाघव सूचित है।) शस्त्रसंपात में प्रवृत्त होने पर धनुष उठाकर स्वराज्य प्राप्ति की कामना से हृषीकेश=इन्द्रिय प्रेरक से उस समय यह वाक्य बोला। महीपति, यह सम्बोधन राजाओं के धर्म को बतलाता है। 'सेनयोः' पद से उनके ही वाक्य कहे हैं।

अच्युत, दोनों सेनाओं के मध्य मेरे रथ को स्थित करो ॥२०-२१॥

---

[1] हनुमानजी ने भीमसेन को वचन दिया था इसलिये वे अर्जुन के रथ की विशाल ध्वजा पर विराजमान रहते थे और युद्ध में बड़े जोर-जोर की गर्जना भी करते थे। अतः अर्जुन का नाम कपिध्वज पड़ गया था। महाभारत वनपर्व। १५७१-१७,१८

यावदेतान्निरीक्ष्येऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मयासह योद्धव्यमस्मिन् रण समुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्ष्येऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रिय चिकीर्षवः ॥२३॥

यावदेतान् योद्धुकामान् अवस्थितान् आवक्त्मुखस्थितया स्थितान्पलायनपरानहं निरीक्ष्ये । ननु निरीक्षणेन किं स्यादित्यत आह । कैर्मयेति । अस्मिन् रणसमुद्यमे यत्र रणप्रवृत्ति विनैव शंखध्वनिनैव विदारितहृदयाः शुष्कवदनाः प्रतिभटास्तत्र कैः सह मया योद्धव्यमित्याह ।

अवेक्ष्य इति किं च दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्येति भगवत्प्रतिपक्षत्वेन स्वपराजय मननुसंधानस्यांधस्य पुत्रस्तस्य प्रियं चिकीर्षवस्तेऽप्यंधा एव तथा भूतायेऽत्र समागताः सम्यक् प्रकारेणयुद्धार्थमागतास्तान् योत्स्यमानान् युध्यमानानहं अपेक्ष्ये तावन्मे रथं सेनयोर्मध्ये स्थापयेति पूर्वेणैव संबधस्तत्र मध्ये रथस्थापने मम भयं तु नास्त्येव यतस्त्वमच्युतोसि ।

एवं चतुर्भिर्युद्धोद्यमोप्युक्तः ॥२३-२४॥

जब तक मैं युद्ध की कामना से अवस्थित्=नौनामुख किये स्थित, पलायन पर योद्धाओं को देखूं । निरीक्षण से क्या लाभ, यह इसका उत्तर है । 'कैर्मया' इति । इस रण में जहाँ रण प्रवृत्ति के बिना ही शंखध्वनि से हृदय विदीर्ण हो गये हैं, मुख सूख गये हैं, ऐसे योद्धाओं में किनके साथ युद्ध करूँ ?

धार्तराष्ट्र पद इस हेतु रखा है कि यह भगवान् का प्रतिपक्षी है । अपनी पराजय नहीं जानता तथा अन्ध के पुत्र भी उसका प्रिय चाहते हैं, अतः वे भी अन्ध है । ऐसे जो यहाँ आये हैं, उन्हें मैं देखूँ । तब तक मेरे रथ को सेनाओं के मध्य में रखो । वहाँ रथ स्थापना में मुझे कोई भय नहीं है, क्योंकि आप अच्युत साथ में हैं ।

इस प्रकार चार श्लोकों में युद्धोद्यम भी कहा है ॥ २२, २३ ॥

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रंथोत्तमम् ॥२४॥

एवमर्जुनवाक्यं श्रुत्वोभयोः सेनयोर्मध्ये रथमास्थाप्यार्जुनं प्रत्युवाच भगवान् इत्याह संजयो द्वाभ्यां एवमुक्त इति द्वयेन ।

एव गुडाकेशेन[1] जितनिद्रेणार्जुनेन उक्तो हृषीकेशः उभयोः सेनयोर्मध्ये रथोत्तमं स्थापयित्वा अर्जुनं प्रत्युवाच । हृषीकेशत्वात्तत्प्रेरकः स्वयमेवेति न विमनस्कत्वम् ॥२४॥

इस प्रकार अर्जुन के वाक्य सुनकर दोनों सेनाओं के मध्य में रथ स्थापित कर भगवान् अर्जुन से बोले, इस बात को संजय दो श्लोकों में कहता है ।

इस प्रकार गुडाकेश जितनिद्र अर्जुन से कहे गये हृषीकेश ने रथोत्तम को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित किया ।

हृषीकेश का भाव है कि वे अर्जुन के भी प्रेरक हैं अतः विमनस्कता है ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

भीष्मद्रोणौ च परमयुद्धविशारदाविति तत्प्रमुखतः रथं स्थापयित्वा सर्वेषां महीक्षितां राज्ञां च ।

हे पार्थ, समवेतान् मिलितान् कुरूनेतान् पश्येत्युवाच ॥ २५ ॥

भीष्म द्रोण परम युद्धविशारद हैं । उनके तथा सम्पूर्ण राजाओं के समक्ष रथ स्थापित कर हृषीकेश ने अर्जुन से कहा—

हे पार्थ, एकत्रित हुए कुरुओं (कौरवों) को देखो ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथपितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

एवं भगवदुक्तोऽर्जुनस्तान्ददर्शेत्याह सार्धेन तत्रेति । तत्र संग्रामाजिरे उभयोः सेनयोरपि मध्ये स्थितानेतानपश्यत् ।[1]

पितॄन्[1] पितृव्यान् इत्यर्थः । सखीन् बाल्ये क्रीडायां संमतान् ।

---

[1] पितृ तुल्य=भूरिश्रवा आदि । पितामह=भीष्म, सोमदत्त, वाह्लीक । गुरु=द्रोण, कृप । मामा=पुरुजित, कुन्तिभोज, शल्य । पुत्र=प्रतिविन्ध्य घटोत्कचादि । पौत्र=लक्ष्मण के पुत्र । श्वसुर=द्रुपद, शैव्य आदि ।

भगवान् के द्वारा शापित अर्जुन ने उन्हें देखा, यह सार्धश्लोक से स्पष्ट है । संग्राम भूमि में दोनों सेनाओं के मध्य में स्थित योद्धाओं को अर्जुन ने देखा । उस सेना के मध्य पितृव्य आदि थे । सखीन्=बाल्यावस्था के सखा ॥ २६ ॥

श्वसुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

सुहृदो मित्राणि तत्पार्श्वेऽपि स्थित्वा स्वश्रेयो विचारकांस्तान्दृष्ट्वा किं कृतवान् इत्यत आह ।

तानिति । तान् समीक्ष्य कौन्तेयः विषीदन् इदमग्रे वक्ष्यमाणमब्रवीत् । ननु क्षत्रियाणां युद्धोत्सवं दृष्ट्वोत्साह एवोचितोऽर्जुनस्य कथं विषादो जायते इत्यत आह ।

कृपया परयाविष्ट इति । परया भक्तिरूपया आविष्टः सर्वभूतेषु यः पश्येदित्यादिरूपया । ननु तथा सति राज्यापगमे लोकरक्षा न भविष्यतीति । तत्रापि सा मे कथमाविर्भूतेत्यत आह ।

बंधून् इति । तेपि स्वबांधवा राज्यरक्षणसमर्थाः स्वयं तु भगवच्चरणैकतत्पर इति तथाभूतोऽर्जुनो वाक्यान्याह दृष्ट्वेममिति ।

हे कृष्ण ! इमं युयुत्सुं योद्धकामं समुपस्थितं सम्यक्प्रकारेणोपस्थितमनिवर्तिनं स्वजनं दृष्ट्वा मम गात्राणि सर्वांगानि सीदन्ति विशीर्यन्ते । मुखं च परितः बाह्याभ्यंतरभेदेनेत्यर्थः वेपथुश्चेति एतत्सर्वं भवति । न शक्नोमि इति अवस्थातुं न च समर्थोऽस्मीति भावः ॥ २७-२८-२९ ॥

सुहृद्=मित्र, उनके पार्श्व में स्थित अपने श्रेय विचारकों को देखकर क्या किया, इसलिये कहा है—तान्··· ।

उन्हें देखकर अर्जुन दुःखित होकर बोला ।

शंका—क्षत्रियों को तो युद्धोत्सव देखकर उत्साह ही करना चाहिये फिर अर्जुन को विषाद क्यों ?

उत्तर—कृपया परयाविष्टः अर्जुन परया=भक्तिरूप कृपा से आविष्ट था । सर्व भूतों में समान दृष्टि रखना ही कृपा है ।

शंका—समदृष्टि से या कृपा से राज्य चला जायगा, लोक रक्षा न होगी । कृपा मुझ में आविर्भूत ही क्यों हुई ।

अतः कहा है—बंधून् इति । वे बांधव भी राज्य रक्षण में समर्थ हैं और अर्जुन स्वयं भगवच्चरण परायण है, अतः यह कहता है—'दृष्ट्वेमम्'

हे कृष्ण, युद्ध कामना से उपस्थित (लौटकर न जाने वाले) स्वजनों को देखकर मेरे अंग (शीर्ण) शिथिल[1] हो रहे हैं । मुंह बाहर-भीतर दोनों ओर से सूख रहा है । कम्प भी हो रहा है । स्थित रहने को समर्थ नहीं हूं ॥ २७, २८, २९ ॥

गांडीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

किंच । हे केशव दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्षदायक विपरीतानि निमित्तानि पश्यामि असमर्थः युद्धं कृत्वा राज्यादिकरणरूपाणि तानि तथा भूतानि सर्वाणि पश्यामि, भगवदीयस्य तथात्वमनुचितमिति भावः । तदेवाह न चेति

---

[1] गांडीव भी छूट रहा है ।
यह धनुष पहले ब्रह्माजी के पास १००० वर्ष तक था ।
पुनः प्रजापति के पास ४०३ वर्ष ,,
,, इन्द्र के पास ८५ वर्ष ,,
,, चन्द्रमा के पास ५०० वर्ष ,,
,, वरुण के पास १०० वर्ष तक रहा ।
पुनः अग्नि ने अर्जुन को खांडवदाह के समय दिलवाया था ।
—महाभारत

स्वजनमाहवे संग्रामे हत्वा अनुपश्चात् श्रेयो न पश्यामि. श्रेयो भगवत्कृपात्मिका भक्तिरित्यर्थः । अतएव भगवतोक्तम् ।

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥ इति ॥ ३०, ३१ ॥

हे केशव, 'दुष्ट गुण व्याप्तों को भी मोक्षदायक' मैं विपरीत निमित्तों को देख रहा हूँ, असमर्थ हूँ । साधकों — भगवदीयों को यह सब अनुचित है ।

स्वजनों को संग्राम में मारकर अपना श्रेय नहीं देखता । (श्रेय का अर्थ है भगवत्कृपात्मिका भक्ति ।)

भगवान् ने कहा है — मेरी भक्ति से युक्त योगी को, जो मुझ में तन्मय है उसे, ज्ञान और वैराग्य से क्या प्रयोजन ॥ ३०-३१ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

तद्विनाहं विजयं राज्यं च न कांक्षे । तज्जनितानि सुखान्यपि चकारेण भक्तावपि सुखानि न कांक्षे यतो भगवत्तोषहेतुस्ताप एवेति भावः । पुनर्विस्तरेण तदाकांक्षित्वाभावं प्रपंचयति ।

किन्नो राज्येनेति । नः राज्येन किं भोगैर्वा किं जीवितेन वा किं । हे गोविन्द ! त्वां विना एतैर्न किंचित्प्रयोजनमस्माकमिति भावः ।

गोविंदेति संबोधनेन यथा व्रजवासिनां त्वमिन्द्रो भूत्वा सुखभोगं कारितवांस्तथैव भक्तानामुचितमिति भावो ज्ञाप्यते ॥ ३२ ॥

उसके बिना मैं विजय और राज्य की आकांक्षा भी नहीं करता और न तज्जनित सुख चाहता हूँ । चकार पद से भक्ति में भी सुख की आकांक्षा नहीं है जिससे भगवत्तोष हेतु ताप ही हो, यह भाव है ।

विस्तार से कांक्षा के अभाव का विस्तार है ।

'किं नो राज्येन' पद से मुझे राज्य से क्या और भोगों से तथा जीवन से भी क्या प्रयोजन ! हे गोविंद, तुम्हारे बिना इनसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है ।

गोविंद संबोधन से जैसे व्रजवासियों के आप इन्द्र बनकर उन्हें सुखदाई बने उसी प्रकार भक्तों को भी सुख-प्रदानकारी बनें, यह भाव ज्ञापित है ॥ ३२ ॥

येषामर्थे कांक्षितन्नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेवस्थिता युद्धे प्राणास्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

ननु तवैकस्य नाकांक्षा तथापि स्वकीयसंबंधिनां सर्वेषामर्थे शत्रून्मारयित्वा राज्यं स्वकीयं कुर्वित्याशंकायामाह येषामर्थ इति ।

येषामर्थे नः राज्यमाकांक्षितं भोगाः सुखानि च कांक्षितानि ते सर्वे इमे प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा युद्धे संग्रामे मरणार्थमवस्थिता इत्यर्थः । तस्मादेतन्मारणे न लौकिकसिद्धिरपि नास्माकमिति भावः ॥ ३३ ॥

शंका — यदि तुम्हारी (अर्जुन की) अकेले की आकांक्षा नहीं है फिर भी स्वकीय बांधवों के लिये तो शत्रुओं को मारकर राज्य को अपना बनाओ ।

इसका समाधान है 'येषामर्थे' । जिनके लिये मैंने राज्य की कांक्षा की, भोग और सुखों की आकांक्षा की, वे सब प्राण और धन का परित्याग कर संग्राम में मृत्यु का वरण करने के लिये आये हैं । इसीलिये इनके मारने से भी हमारी लौकिक सिद्धि नहीं होगी ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥३४॥

तान् सर्वान्नामभिर्गणयति आचार्या इति एते राज्यभोगेनियुक्तास्ते त्वत्र मरणार्थमुपस्थितास्तन्मारणानंतरं स्वस्यानपेक्षितत्वात् राज्यभोगसुखादिभिर्न किंचित्कार्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

स्वकीयों का नाम निर्देशपूर्वक उल्लेख किया गया है 'आचार्याः' आदि द्वारा । जिन सब स्वकीयों के लिये राज्य भोग के लिये नियुक्त किया था वे तो यहाँ मरण के लिये उपस्थित हैं । इसलिये उन्हें मारने के अनन्तर अपनी क्या अपेक्षा है अर्थात् राज्य-सुख भोगादि से फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥ ३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

ननु त्वत्संबंधिनोपि ये युद्धार्थमुपस्थितास्तांश्चेत्त्वं न मारयिष्यसि तदा त एव त्वां मारयिष्यंतीति चेत्तत्राह एतानिति ।

हे मधुसूदन मां घ्नतोपि एतानहं हंतुं नेच्छामि । मधुसूदनेति संबोधनेन त्वत्सहायवन्तं । मामेते मारयितुमेव न समर्था इति ज्ञाप्यते ।

त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोस्तथाकर्तुं नेच्छामि । किं पुनः महीकृते तथा करिष्यामि ॥ ३५ ॥

शंका—यदि तुम इन उपस्थित संबंधियों को न मारोगे तो वे तुमको मार डालेंगे । अतः कहा है 'एतान्' आदि ।

हे मधुसूदन, यदि ये मुझे मार डालेंगे तब भी मैं इन्हें न मारूंगा ।

मधुसूदन कहने का भाव यह है कि आप मेरे सहायक हैं । अतः ये मुझे मार भी नहीं सकते ।

तीनों लोकों के राज्य के लिये भी मैं वैसा नहीं कर सकता, फिर केवल पृथ्वी के राज्य की कामना कैसी ? ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन सर्वाविद्यानाशक धार्तराष्ट्रान् ज्ञानदृष्टिरहितानेतान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात् । न कापीत्यर्थः ।

जनार्दनेति संबोधनेन त्वदीयानामस्माकं तथाकरणमनुचितमिति भावो व्यंजितः । ते तु धृतराष्ट्रात्मजा इति त्वां न पश्यन्ति । तेन तेषां तथाकरणमुचितमिति धार्त्तराष्ट्रेति पदेन व्यंजितम् ।

यद्वा । अस्मदीयान् धार्त्तराष्ट्रान्निहत्य तव का प्रीतिःस्यात् अत्रायं भावः ।

लौकिकभावेन ते त्वस्मदीया एव । तन्मारणे नास्माकं तु प्रीतिस्यात्तदा त्वत् प्रीत्यर्थं हन्तव्याः । अस्माकं यथाकथंचित् त्वं प्रीणनीय इति भावः । ननु ते आततायिन इति ।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेतेह्याततायिनः ॥
आततायिनमायांतं हन्यादेवाविचारयन् ।
आततायिवधे दोषो हंतुर्भवति कश्चन ॥

इत्यादिवाक्यैः प्रीतिर्भवतु मा वा सर्वथैतेह्युक्त सर्वदोषसहिता इति हंतव्या एव ते तु स्वपापेनैव हंतव्यास्त्वं निमित्तमात्रं भवेति चेत्तत्राह ।

पापमेवाश्रयेदिति । आततायिन एतान् हत्वा पापमस्मानेवाश्रयेत् । किंच । आततायि मारणे दोषाभावस्तु धर्मशास्त्रविचारेणार्थशास्त्रविचारेण वा निरूपितो न तु भक्तिविचारेण । भक्तिमार्गात्तु तयोर्दुर्बलत्वात्तन्मारणेनास्माकं पापमेव भवेत् । पापाच्च भगवत्संबंधो न स्यादतएव 'नराणां क्षीणपापानाम्' इति निरूपितम् ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन=सर्व अविद्या नाशक, धृतराष्ट्र के ज्ञान दृष्टि रहित पुत्रों को मार कर हमें क्या प्रसन्नता होगी अर्थात् कुछ भी नहीं ।

जनार्दन संबोधन का आशय है कि तुम्हारे व्यक्तियों को इस प्रकार करना भी उचित नहीं है । वे धृतराष्ट्र पुत्र हैं, अर्थात् वे आपको नहीं देखते । अतः उनका व्यवहार तो ठीक है, यह धृतराष्ट्र पद से व्यंजित है । अथवा धृतराष्ट्र पुत्र हमारे ही हैं, इन्हें मारकर तुम्हें क्या प्रीति होगी । लौकिक भाव से तो वे भी हमारे ही हैं । उनके मारने से हमें कोई प्रीति नहीं, हम तो तुम्हारी प्रीति के लिये उन्हें मारना चाहते हैं । हमें तो किसी न किसी प्रकार तुम्हें प्रसन्न करना है ।

यदि यह कहें कि धृतराष्ट्र आततायी है[1] और आततायी को मार डालना चाहिये । आततायी को मारने वाले को कोई पाप नहीं ।

आततायी की परिभाषा—अग्नि लगाने वाले, विष देने वाले, शस्त्रधारी, धनापहरण करने वाले, क्षेत्र (भूमि) व स्त्री का अपहरण करने वाले व्यक्ति आततायी कहलाते हैं ।

कौरव सर्व दोष सहित हैं, अतः इनका वध उचित ही है । वे अपने पाप के कारण ही स्वयं नष्ट होने योग्य हैं । अर्जुन, तुम निमित्त मात्र हो यह आगे कहा है—'पापमेवाश्रयेत्' आदि से

इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही लगेगा । आततायियों का वध करने में धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के विचार से दोषाभाव है, किन्तु भक्ति के विचार से नहीं है । धर्मशास्त्र-अर्थशास्त्र भक्ति मार्ग से दुर्बल हैं । अतः इनके मारने से हमें पाप ही लगेगा । पाप से भगवत् संबंध न होगा । तभी तो 'क्षीण पाप होने वाले मनुष्यों का' लिखा है । ॥ ३६ ॥

---

[1] वशिष्ठ स्मृति में इसकी परिभाषा है ।
मनुस्मृति ८।३५० में आततायी को मारने का आदेश भी है ।

तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्त्तराष्ट्रान् स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

तस्माद्वयं स्वकीयत्वादेतन्मारणानर्हा इत्याह तस्मादिति । तस्माद्वयं स्वबांधवान्धार्तराष्ट्रान् हंतुं नार्हा न योग्या इत्यर्थः ।

हे माधव स्वजनं हत्वा कथं सुखिनः स्याम, सुखिनो भविष्याम इत्यर्थः ।

वयमित्युक्त्या भगवतः स्वमध्यपातित्वमुक्तम् । तेनास्माकं त्वत्संग एव सुखरूपस्त्वमेवास्माकं स्वजन इति ज्ञापितम् । तस्मात्स्वजनापराधात् स्वजननाशः स्यादस्माकं च त्वमेव स्वजन इति । त्वत्संबंधाभावे वयं कथं सुखिनो भविष्याम इति व्यंजितम् ।

माधवेति संबोधनेनास्माकं न लक्ष्म्याद्यपेक्षितेति ज्ञापितम् ॥३७॥

दोनों ही तुम्हारे हैं तब मारना कैसे उचित है अतः कहा है 'तस्मात्' । स्वकीय बांधवों का वध उचित नहीं है ।

हे माधव, स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी रहेंगे । 'वयम्' की उक्ति में भगवान् का स्वमध्यपातित्व कहा है । स्वजन पद से तुम्हारा संग ही सुखदायी है, यह ज्ञापित है । अतः स्वजन अपराध से स्वजन नाश हो जब कि हमारे आप ही स्वजन है । तुम्हारे संबंध के अभाव से हम कैसे सुखी बनें, यह व्यङ्ग्य है । माधव पद से लक्ष्मी की अपेक्षा भी हमें नहीं है ॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

ननु ये स्वजनत्वादिवधदोषमविचार्यप्रवृत्तास्ते निवृत्तमपि त्वां हनिष्यंत्यतस्त्वमप्यविचार्यैवैतान्मारयेत्याशंक्याह यद्यप्येते इति द्वाभ्याम् । लोभेन उपहतं विभ्रंशितं चेतः मनो येषां ते एते धार्तराष्ट्राः कुलक्षयकृतं कुलक्षयकरणं दोषं यद्यपि न पश्यंति मित्रद्रोहे च यत्पातकं तन्न पश्यंति तथापि पातकं तु भविष्यत्येवेत्यर्थः ॥३८॥

शंका—जो स्वजनत्वादि दोष का बिना विचार किये ही युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं वे तुम्हारे निवृत्त हो जाने पर भी तुम्हें मार डालेंगे, अतः तुम बिना विचार किये ही इन्हें मारो ।

इसका समाधान 'यद्यप्येते' आदि से किया गया है ।

लोभ से जिनका चित्त नष्ट हो गया है, ऐसे धृतराष्ट्र के ये पुत्र कुलक्षीणकर्ता दोष को न देखते हुए मित्रद्रोह के पातक को भी नहीं देख रहे, फिर भी पातक तो लगेगा ही ॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

हे जनार्दन, अविद्यानाशक त्वत्स्वरूपविद्भिः कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिरस्माभिर्लोभानुपहत चित्तैरस्मात्पापान्निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम् । ज्ञेयमेवेत्यर्थः ॥३९॥

हे जनार्दन=अविद्यानाशक, आपके स्वरूप को जानने वाले लोभ से दूर हम लोगों द्वारा कुलक्षयकृत दोष को देखना ही चाहिये ॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोभिभवत्युत ॥४०॥

एवमुक्त्वा कदाचिल्लौकिकस्नेहवशादेव निवृत्तो न तु पापस्वरूपज्ञानादधर्मबुद्ध्येत्याशंक्य कुलक्षयकृतं दोषमनुवदति ।

कुलक्षय इति पंचभिः सनातनाः प्राचीनाः परंपराप्राप्ताः कुलक्षये जाते वा प्रणश्यंति प्रकर्षेण नश्यंति पुनरुदयाभावः प्रकर्षः । तस्माद्वयं पार्थाः पृथासंबंधेन त्वयांगीकृता इत्यस्माकं परंपरागतो धर्मस्त्वद्भक्तिस्तन्नाशकपापादस्माकं विनिवृत्तिरेवोचितेति भावः ।

नन्विदानीं धर्मनाशेप्यग्रे प्रह्लादादिवत्कुले कोपि भक्तो भवेच्चेत्तदा धर्मः पुनरुद्भविष्यति तस्माच्छीघ्रोत्थिताधर्मनाशकत्वेन युद्धकरणमेवोचितमित्यत आह ।

धर्मे नष्ट इति । उत कृत्स्नमवशिष्टमपि कुलं धर्मे नष्टे सति अधर्मोभिभवति व्याप्नोतीत्यर्थः ॥४०॥

कदाचित्—लौकिक स्नेह वश से ही निवृत्त हुए हो, पाप स्वरूप ज्ञान से—अधर्म बुद्धि से नहीं, इस आशंका के लिये आगे कहा है—'कुलक्षयकृतम्' ।

प्राचीन परंपरा का विनाश कुलक्षय हो जाने पर होगा, अतः हमें पृथा के

संबंध से आपने अंगीकार किया है। यही हमारा परंपरागत धर्म—तुम्हारी भक्ति है। भक्ति नाशक पाप से हमारी निवृत्ति ही श्रेष्ठ है।

शंका—यदि इस समय धर्मनाश होने पर भी आगे प्रह्लाद आदि की भाँति कुल में कोई भक्त होगा तब धर्म का पुनः उद्भव हो जायगा। इसलिये शौर्य क्षात्रधर्म के रक्षण से युद्धकरण ही उचित है, इसका उत्तर देते हुए कहा है—'धर्मेनष्टे'। धर्म के नष्ट होने पर अवशिष्ट कुल भी अधर्ममय होगा ॥४०॥

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

तेनाग्रेपि कोपि तथा न भवतीत्याह अधर्माभिभवादिति। अधर्माभिभवादधर्मव्याप्ताः कुलस्त्रियः प्रदुष्यंति व्यभिचारादिदोषयुक्ता भवंतीत्यर्थः। स्त्रीषु दुष्टासु जातासु वर्णसंकरो जायते। वार्ष्णेयेति संबोधने सत्कुलोत्पन्नानां तथात्वं कुलेनुचितमिति ज्ञापितम् ॥४१॥

और आगे भी कोई धार्मिक न होगा। अधर्म से व्याप्त कुलस्त्रियाँ व्यभिचारादि दोषों से युक्त होती हैं। स्त्रियों के दुष्ट होने पर वर्णसंकर सृष्टि होती है।

'वार्ष्णेय' पद के संबोधन से सत्कुल में उत्पन्नों का उस प्रकार का होना अनुचित है ॥४१॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥४२॥

संकराच्च नरक एव स्यादित्याह संकर इति। संकरः कुलस्य नरकायैव भवति। एव कारेण पापभोगानंतरं नरकोद्धरणाद्यभावो ज्ञापितः। कुलघ्नानामेषां पितरश्च पतन्ति स्वधर्मोपार्जितस्वर्गादिलोकेभ्यः। हीति युक्तश्चायमर्थः। यतो लुप्तपिंडोदकक्रियाः लुप्ताः पिंडोदकाः क्रिया येषाम् ॥४२॥

संकरता कुल को नरक में डालती है।[1]

---

१. शुद्ध सन्तान के द्वारा दिया गया पिण्डदान-जलदान ही पितरों को स्वर्गादि में मिलता है, इससे मृतक के श्राद्धकर्म की भी पुष्टि हुई। अथर्ववेद के ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धाः ।१८।२।३४। मंत्र में इसकी पुष्टि है। याज्ञवल्क्य आचाराध्याय २६९-२७० में भी स्पष्ट है।

एव पद का भाव है कि पाप भोग के पश्चात् नरक से भी उद्धार नहीं। कुलघ्नों के पितर भी स्वधर्मोपार्जित लोकों से गिर जाते हैं।

हि=यह युक्त ही है, क्योंकि उनकी पिण्ड-उदक क्रिया भी तो लुप्त हो जाती है ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकर कारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

किं च कुलघ्नानां तु नरको भवत्येवात्र किं वाच्यम् यतस्तत्संबंधात्सर्वस्यैव भूमौ धर्मनाशो भवतीत्याह। दोषैरेतैरिति। दोषैरेतैर्वर्णसंकरकारकैरेतैः कुलघ्नानां दोषैर्जातिधर्माः शाश्वताः कुलधर्मा उत्साद्यन्ते लुप्यन्त इत्यर्थः चकारेणाश्रमादिधर्माश्च परिगृह्यन्ते ॥४३॥

यदि यह कहा जाय कि कुलघ्नों को तो नरक होगा ही क्योंकि उनके सम्बन्ध से भूमि पर धर्म नाश होगा ही। अतः कहा है 'दोषैरेतैः'।

वर्णसंकर कारक दोषों से कुलघ्नों के दोषों से जाति धर्म लुप्त हो जाते है और आश्रम धर्म भी नष्ट हो जाते हैं ॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

एवं सर्वधर्मलोपात्सर्वेषां नरकलोको भवतीत्याह उत्सन्नकुलधर्माणामिति।

हे जनार्दन, उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां नियतं नरके वासो भवतीति वयमनुशुश्रुम श्रुतवंत इत्यर्थः।

जनार्दनेति संबोधनेन त्वत्संबंधरहितास्तथा भवंति। अविद्यासंबंधादिति ज्ञापितम् ॥४४॥

इस प्रकार सर्व धर्म लोप से नरक लोक होता है। हे जनार्दन ! जिनके कुल धर्म नष्ट हो जाते है उनकी नरक स्थिति निश्चित है ऐसा हमने सुना है।

जनार्दन पद का आशय है कि तुम्हारे संबंध से रहितों की ही अविद्या सम्बन्ध से यह दशा है ॥४४॥

अहोबत महत् पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्य सुख लोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

नन्वेतादृशी बुद्धिश्चेत्तदापूर्वं कथं युद्धव्यवसायः कृत इत्याशंक्य पूर्वमज्ञानात्कृतमितिपश्चात्तापं करोति । अहोबतेति । बत इति खेदे । वयं महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता अध्यवसायं कृतवन्त इत्यर्थः ।

पापस्वरूपमेवाह । यद्राज्येति । यद्यस्मात्कारणद्राज्य सुख लोभेन स्वजनं हन्तुमुद्यता उद्यमं कृतवन्त इत्यर्थः ।

अहो इत्याश्चर्यम् । यतो राज्यसुखं तु स्वजनैः सहैव स्वजनार्थं वा तानेवहन्तुमुद्यता इत्याश्चर्यम् । ननु त्वं चेन्न ॥४५॥

यदि ऐसी बुद्धि है तो अर्जुन तुमने पहले युद्ध क्यों किया था ? इस पर अर्जुन का कथन है कि वह अज्ञान से किया था । अतः वह पश्चात्ताप करता है । 'बत' शब्द खेदवाची है—

हमने पाप करने का निश्चय किया, यह बड़े खेद की बात है जो राज्य सुख के लोभ से स्वजनों को मारने का उद्यम किया ।

अहो=आश्चर्य । क्यों कि राज्य सुख तो स्वजनों के लिये है, उन्हें ही हम मारना चाहते हैं ॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

हनिष्यसि तदैते त्वां हनिष्यंत्येवेति चेत्तत्राह यदिमामिति । धार्त्तराष्ट्रा अंधापत्यानि यदि वा अप्रतीकारं अकृतप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्ररहितं मा शस्त्रपाणयः सन्तो हन्युः हनिष्यन्ति तन्मे क्षेमतरं भवेत् । कल्याणरूपं भवेदित्यर्थः ।

पूर्वकृतव्यवसायप्रायश्चित्तरूपं भवेदित्यर्थः । अजिघांसतं मां हनिष्यंति चेत्तदा क्षेमरूपं भवेत् तव सन्निधौ मरणे च क्षेमतरं भवेत् । इति भावः ॥४६॥

यदि तुम उन्हें न मारोगे तो वे ही तुम्हें मारेंगे । इस पर अर्जुन का कथन है—कि धृतराष्ट्र के पुत्र अन्धे, प्रतीकार न करनेवाले शस्त्र रहित को शस्त्र लेकर मारेंगे तो मेरा कल्याण ही होगा ।

पूर्वकृत व्यवसाय का यह प्रायश्चित्त रूप होगा । न मारने पर भी मारेंगे तो मेरा कल्याण होगा ही क्योंकि आपकी उपस्थिति में मरण होगा ॥४६॥

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्न मानसः ॥४७॥

ततः किं कृतवानित्यपेक्षायां संजय आह । एवमुक्त्वा अर्जुनः संख्ये संग्रामे रथोपस्थे रथोपरि स्थितः भक्त्यंतरायत्वेन युद्धोपक्रान्ति राज्यानाकांक्षणेपि भगवदनुत्तरे भक्तिज्ञानार्थं शोकसंविग्नमानसोभूत्वा सशरं चापं विसृज्य उप समीपे भगवत आविशत् स्थित इत्यर्थः ॥४७॥

तब क्या किया यह प्रश्न धृतराष्ट्र का था । संजय ने कहा कि—इस प्रकार अर्जुन संग्राम में रथ के ऊपर स्थित होने पर भी भक्ति में विघ्न रूप युद्ध को देखकर राज्य की अनाकांक्षा में भी भगवान् का उत्तर न पाकर भक्ति ज्ञान के लिये शोक संविग्न वाला धनुषबाण छोड़कर भगवान् के समीप स्थित हो गया ॥४७॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

एवमस्मिन्नध्यायेऽर्जुनस्य विषादे लोकशास्त्रातिक्रमो हेतुत्वेनोक्तः । न चात्ताधिकारस्याग्रिमाध्यायारंभ एव सिद्धेरस्याऽध्यायस्य किं प्रयोजनमिति शंक्यं कृपावेशबोधनार्थत्वेन स्व प्रयोजनत्वात् ।

अतएव पाद्मे गीतामाहात्म्ये
'तस्मादध्यायमाद्यं यः पठेद्यः संस्मरेत्तथा ।
अभ्यासादस्य न भवेद्भवांभोधि सुदुस्तर ॥' इति

फलमुक्तं तस्मादुपोद्घातः संगतिः ।

इति श्रीमद्भगवद्गीता टीकायां गीतामृततरंगिण्यां
प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

इस अध्याय में अर्जुन के विषाद में लोकशास्त्र का अतिक्रमण हेतुपूर्वक कहा गया है ।

यह शंका भी उचित नहीं कि आर्त्ताधिकार की अग्रिमाध्याय के आरंभ में ही सिद्धि है अतः इस अध्याय का प्रयोजन ही क्या ? कृपा के संबोधन के लिये यह अध्याय सप्रयोजन है । तभी तो पद्मपुराण के गीतामाहात्म्य में लिखा है कि 'जो व्यक्ति प्रथम अध्याय का पाठ करता है, स्मरण करता है, अभ्यास करता है, उसे संसार समुद्र पार करना कठिन नहीं है ।' यह फल है और इसी से उपोद्घात की संगति है ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां गीतामृततरंगिण्यां श्रीवरी हिन्दीटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

◆

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥1॥

शोकसागरसंमग्नं पार्थं स्वीयत्वभावतः ।
कृष्णः स्वसांख्ययोगाभ्यामुज्जहार दयापरः ॥

पूर्वाध्याये शोकसंविग्नमानसोऽर्जुनः सशरं चापमुत्सृज्योपाविशदित्युक्तम् । ततः किं जातमित्याकांक्षायां संजय आह ।

तं तथेति । तमर्जुनाविष्टं स्वस्मिन् अश्रुभिः पूर्ण आकुले ईक्षणे यस्य तं तथा विषीदंतं पूर्वोक्तप्रकारेण खिन्नं तं मधुसूदनः सर्वमारणसमर्थः कृपया इदं वाक्यं अग्रे उच्यमानमुवाच ॥१॥

मंगलाचरण

शोक सागर में डूबे हुए अर्जुन को स्वीयत्व भाव से सांख्य योग[1] का उपदेश देकर कृष्ण ने दया पूर्वक उसका उद्धार किया ।

पूर्वाध्याय में यह कहा है कि शोक संविग्न मानस अर्जुन धनुषबाण को परित्याग कर बैठ गया ।

फिर संजय कहता है कि अर्जुन को अश्रुपूर्ण नेत्र सहित तथा परम खिन्न देखकर सर्व मारण समर्थ ने कृपा पूर्वक कहा ॥१॥

---

[1] इस अध्याय में उपदेश का आरम्भ सांख्य योग से हुआ है । यद्यपि १० वें श्लोक में आत्मतत्त्व का निरूपण है तदनन्तर स्वधर्म वर्णन और कर्म योग का वर्णन भी है ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

भगवद्वाक्यमेवाह कुतस्त्वामिति ।

विषमे असमये अयं युद्धोत्साहसमयो न तु दयाया इत्यस्मिन्समये हे अर्जुन त्वामिदं कश्मलं कुतः समुपस्थितम् । अयं तव मोहः कुतः प्राप्तः । स्वेच्छाज्ञानादस्य कश्मलत्वमुक्तं भगवता । कश्मलं विशिनष्टि विशेषणत्रयेण । अनार्यजुष्टं न विद्यते आर्यत्वं येषु तैः सेवितं अस्वर्ग्यं न विद्यते स्वर्गो यस्मात्तेन धर्मप्रतिपक्षतोक्ता अकीर्तिकरं कीर्त्तिनाशकं तेन क्षात्रधर्मनाशकत्वेन कुलधर्मप्रतिपक्षकत्वमुक्तम् ॥२॥

हे अर्जुन ! युद्ध में उत्साह के समय तुम्हें दया का यह भाव कैसे उपस्थित हुआ । अर्थात् असमय में यह मोह क्यों ?

कश्मल को तीन विशेषण दिये हैं—

अनार्यजुष्ट=जिनमें आर्यधर्मता नहीं, उनके द्वारा सेवित है ।

अस्वर्ग्यम्=जिससे स्वर्ग प्राप्ति भी नहीं होती, अतः धर्म प्रतिपक्षी है ।

अकीर्तिकरम्=कीर्ति नाशक है । क्षात्रधर्म नाशक होने से कुल धर्म प्रतिपक्षी है ॥२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तोतिष्ठ परंतप ॥३॥

अयं धर्मस्तव नोचित इत्याह । हे पार्थ क्षत्रियकुलोद्भव क्लैब्यं नपुंसकधर्मकातर्यं मा स्म गमः मा प्राप्नुहि । एतत् त्वयि न उपपद्यते । क्षुद्रं तुच्छं अक्षुद्रे न स्यात् ।

हे परंतप शत्रुतापन ! हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ, सावधानो भव युद्धायेति शेषः ॥३॥

द्वितीय

यह धर्म तुझे उचित नहीं, अतः भगवान् ने कहा, हे पार्थ=क्षत्रिय कुलोत्पन्न, नपुंसक धर्म (कातर भाव) को प्राप्त मत हो ।

तुच्छत्व अक्षुद्र में नहीं होता । हे शत्रुतापन ! हृदय की दुर्बलता को त्यागकर युद्ध को उठ ॥३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

एवमुत्तेजकभगवद्वाक्यं श्रुत्वा अहं कातर्येण युद्धादपक्रान्तः किंतु धर्मबुद्ध्येत्यर्जुनो भगवंतं विज्ञापयामास कथमित्यादिषड्भिः । हे मधुसूदन, मधुदैत्यमारणेन मथुरास्थापनेन भक्तपरिपालक अहं संख्ये संग्रामे भीष्मं द्रोणं च इषुभिश्शरैः कथं प्रतियोत्स्यामि प्रतिकूलतया योत्स्यामीत्यर्थः । भीष्मस्य भक्तत्वान्मारणमनुचितं द्रोणस्यापि गुरुत्वात्तथेति द्रोणं चेत्यनेन ज्ञापितम् ।

भीष्मद्रोणौ च पूजार्हौ पूर्वोक्तप्रकारेण । हे अरिसूदन, शत्रुमारक अनेन संबोधनेनैतौ भक्तद्विजौ न तु शत्रू ततः कथं मारणार्थं मां प्रवर्त्तयसीति ज्ञापितम् ॥४॥

इस प्रकार उत्तेजक भगवद्वाक्य सुनकर अर्जुन ने कहा—

मैं भय के कारण युद्ध से नहीं हट रहा हूँ अपितु धर्मबुद्धि से । अपने इस अभिप्राय को वह इन छह श्लोकों में व्यक्त कर रहा है ।

हे मधुसूदन=दैत्य को मारने वाले या मथुरा स्थापन करने वाले, भक्ति के पालक, मैं इस संग्राम में भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य को बाणों से किस प्रकार मारूँगा ।

भीष्म को मारना तो भक्त होने के कारण अनुचित है और द्रोण वध आचार्य होने के कारण अनुचित है । ये दोनों पूजा योग्य हैं ।

हे अरिसूदन=शत्रु मारक, ये दोनों भक्त और द्विज हैं, शत्रु नहीं । तब मुझे इनके वध में क्यों प्रवृत्त कर रहे हो ॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

गुरूणां मारणाद्भिक्षाटनं श्रेयो न तु तन्मारणेन राज्यभोग इत्याह ।

गुरूनिति ।] गुरून्भीष्मद्रोणादीन् अहत्वा इहलोके भैक्षं भिक्षान्नमपि भोक्तुं श्रेय: श्रेयोरूपमित्यर्थ: यतस्ते महानुभावा: । महतो भगवतोऽनुभावका इत्यर्थ: । इहलोके तथा भोगेन परलोके सुखं स्यादितीहलोकपदेन ज्ञापितम् । एतेषां मारणेन तु परलोक एव दुःखं भविष्यतीति ः किन्त्विह लोक एव नरकादिसमं दुःखं भविष्यतीत्याह । हत्वेति । अर्थकामान् अधार्मिकान् गुरून् हत्वा तु इहैव रुधिरप्रदिग्धान् रुधिरावलिप्तान् भुंजीय अश्नीयाम् ॥५॥

गुरुओं के वध की अपेक्षा तो भिक्षा मांगना उचित है। उनको मारकर राज्य का भोग करना उचित नहीं है। तभी कहता है 'गुरून्'।

गुरु भीष्म-द्रोणादि को न मारकर इस लोक में भिक्षा के अन्न से जीवन निर्वाह करना भी श्रेयस्कर है क्योंकि ये महानुभाव हैं। भ[illegible] के अनुभावक हैं।

इनके मारने से इस लोक में दुःख न होगा, दुःख होगा परलोक में ऐसा नहीं है। इस लोक में भी नरकादि के समान दुःख होगा। अधार्मिक गुरु वध द्वारा तो यहाँ ही रुधिर से लिप्त भोग भोगूँगा ॥५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥६॥

किं च । अधर्मांगीकारेणापि तथाकर्त्तव्यं यद्यस्मज्जय एवेत्यस्माकं हि तज्ज्ञानं निश्चितं स्यादित्याह ।

न चैतदिति । वयमेतच्च न विद्म: यद् द्वयोर्मध्ये कतरत् नोऽस्माकं गरीय: श्रेष्ठमधिकं भवति यद्वयं तान् जयेम यदि वा एते नोऽस्मान् जयेयु: जेष्यंति अस्मद्विचारेण त्वस्माकं जयादपि तेषामेव जयो गरीयस्त्वेन भातीत्याह । यानेवेति यान् हत्वा वयं न जिजीविषामो न तु जीवितुमिच्छामस्त एवैते धार्त्तराष्ट्रा: पितृव्यजा भ्रातर: । प्रमुखे युद्धार्थमवस्थिता: अत एतान् हत्वा किं करिष्याम इत्यर्थ: ॥६॥

अधर्म को अंगीकार करने से भी वैसा करना उचित है यदि हमारी जय हो, किन्तु यह तो निश्चित नहीं है ।

हम यह भी नहीं जानते कि दोनों में हम श्रेष्ठ हैं, क्योंकि जिन्हें मारकर हम जीवन की भी इच्छा नहीं करते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे चचेरे भाई युद्धार्थ उपस्थित हैं । अत: इन्हें मारकर भी हम क्या करेंगे ॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

एवं स्वविचारमुक्त्वा तस्य दोषरूपतां वदन् भगवदाज्ञां करिष्यमाण आह कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव इति । कार्पण्यं बंधुमारणानुचितज्ञानरूपं तद्रूपो यो दो[illegible]न उपहत: स्वभाव: क्षात्र: शौर्यादिरूपो यस्य तादृशस्त्वां पृच्छामि ननु उपहतस्वभावस्य विकलस्य किं प्रश्नेनेत्यत आह धर्मसंमूढचेता इति धर्मे धर्मज्ञानार्थं संमूढं चेतो यस्य स: । एतन्मारणे त्वं प्रसन्न: किं वा अमारणे एतन्मध्येऽन्यद्वा यच्छ्रेय: श्रेयो रूपं त्वत्प्रसादरूपं स्यात्तन्मे निश्चितं ब्रूहि अहं ते शिष्यो न तु मित्रमतस्त्वां प्रपन्नं शरणागतं धर्मजिज्ञासया मां त्वं शाधि शिक्षय ॥७॥

इस प्रकार अर्जुन ने अपने विचार और दोषरूपता का निरूपण करके भी भगवदाज्ञा मानने का संकल्प व्यक्त किया—'कार्पण्य' आदि द्वारा। बंधुमारणानुचित ज्ञान रूप जो दोष है उससे क्षात्र शौर्यादि रूप नष्ट स्वभाव वाला मैं तुमसे पूछता हूँ।

यदि यह शंका करें कि उपहत स्वभाव=विकल का प्रश्न कैसा? अतः कहता है—धर्मज्ञान के लिये मेरा चित्त मूढ़ है। इनके मारने में आप प्रसन्न हैं या बचाने में—इसमें जो श्रेय हो, तुम्हारा प्रसाद रूप हो, वह मुझे निश्चित रूप से कहिये। मैं तुम्हारा मित्र नहीं, शिष्य हूं। अतः तुम्हारी शरण में हूं, धर्म जिज्ञासु हूं, शिक्षा दीजिये ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

ननु मित्रत्वाच्छरणागतत्वाच्च यथेच्छा तव भवति तथैव मया कर्त्तव्यमिति चेत्तत्राह न हीति भूमौ असपत्नमद्वितीयं शुद्धं सर्वविभूतिमद्राज्यमवाप्य प्राप्य। परत्र सुराणामाधिपत्यमिन्द्रैश्वर्यमपि प्राप्य इन्द्रियाणामुच्छोषणमतिशोषणकरमभिलाषपूरकं किमपि नास्त्यतो यन्मच्छोकमपनुद्यादपनयेत् तदहं न प्रपश्यामि। अतः किं विज्ञापयामीतिभावः।

हीति युक्तश्चायमर्थो यतो दुरापूराणीन्द्रियाणि ॥८॥

शंका—मित्र होने के नाते, शरणागत होने के नाते, जैसी तुम्हारी इच्छा, मैं वैसा ही करूँगा।

पृथ्वी पर शत्रुरहित सम्पूर्ण वैभव युक्त अद्वितीय राज्य को भी पाकर तथा सुरों का आधिपत्य भी प्राप्त कर इन्द्र का ऐश्वर्य पाकर भी इन्द्रियों की अभिलाषा पूर्ति संभव नहीं है। मैं ऐसी वस्तु नहीं देखता जो मेरे शोक को दूर करे अतः क्या विज्ञापित करूँ कि इन्द्रियों की तृप्ति अति कठिन है ॥८॥

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुणाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

एवमुक्त्वार्जुनः किं कृतवानित्यत आह एवमुक्त्वेति। गुणाकेशोऽर्जुनः हृषीकेशं सर्वेन्द्रियप्रेरकमेवमुक्त्वा पूर्वोक्तप्रकारमुक्त्वा गोविंदं भक्तपरिपालकं न योत्स्य इत्युक्त्वातूष्णीं बभूव।

ह इत्याश्चर्यं भगवदुक्तोपि न राज्यस्य स्पृहालुर्जातः। परंतपः उत्कृष्टं तपो यस्येति संबोधनम्। त्वदीयाः श्रीकृष्णसंमुखे जीवितं त्यक्त्वा कृतार्था भविष्यंति इत्यभिप्रायेण।

अतएव पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्येति वचनं गीयते ॥९॥

गुडाकेश=अर्जुन, हृषीकेश=इन्द्रिय प्रेरक से, गोविन्द=भक्ति-परिपालक से, युद्ध नहीं करूँगा, यह कहकर चुप हो गया।

'ह' पद आश्चर्य प्रकट करता है।

भगवान् के द्वारा कहने पर भी राज्य की स्पृहा शून्य है परंतप=उत्कृष्ट तप वाला। श्रीकृष्ण के सम्मुख जीवन त्याग कर कृतार्थ होंगे। ऐसा आया भी है 'पार्थ के अस्त्र से पवित्र होकर ऊँचे पद को प्राप्त हुए' ॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥१०॥

ततो भगवान् किमुक्तवानित्याकांक्षायामाह तमुवाचेति।

हृषीकेशः विषीदंतमर्जुनं प्रहसन्निव उभयोः सेनयोर्मध्ये इदं वचोऽग्रे वक्ष्यमाणमुवाच।

स्वोक्तलोऽका [illegible] स्वीयेषु भगवान् पुनर्वदति विश्वासार्थं संबोधने भारतेति ॥१०॥

हृषीकेश ने खिन्न अर्जुन से हँसकर दोनों सेनाओं के मध्य कहा—

भारत=सम्बोधन। इसमें अपने जन जो स्वोक्त न करें तब भी उन्हें विश्वास देने का अभिप्राय है ॥१०॥

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः ॥११॥

पूर्वं शास्त्रार्थज्ञानेन स्थिरां बुद्धिं कृत्वा भक्त्युपदेशः कर्त्तव्य इति पूर्वं सर्वशास्त्रोक्तज्ञानमुक्त्वा भक्तिमुपदिशन्नात्मानात्मज्ञानार्थमात्मानात्मज्ञानमाह भगवान् अशोच्यानिति ।

त्वं अशोच्यान् शोकानर्हान् अन्वशोचः अनुशोचितवानसि यतस्तेऽसुरावेशिनो भूभारहरणार्थं मे मारणीया एव न तु ते भक्ताः किं च तेषां शोकं कृत्वा प्रज्ञावादान् प्रज्ञावतां पंडितानां वादान् भाषसे वदसि । तेषां वादानेव वदसि न तु त्वं प्रज्ञावान् । यतस्ते प्रज्ञावंतः पंडिता मदिच्छयैव सर्वं भवतीति ज्ञानवंतः अतः गतासून् गतप्राणान् परलोके तेषां का गतिर्भविष्यति अगतासून् जीवितः जीवतां तेषां कथं योगक्षेमो भविष्यतीति नानुशोचंति अत एव श्रुतिरप्याह—

एष एव तं साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषति एष एव तमसाधुकर्मं कारयति यमधोनिनीषति । इति ।

अतोमत्कृतेऽर्थे कथं शोकः कर्त्तव्य इति भावः ।।११।।

शास्त्रार्थज्ञान से स्थिर बुद्धि करके भक्ति का उपदेश करना चाहिये । सर्व शास्त्रोक्त ज्ञान बतलाकर 'अशोच्यान्' कहते हैं ।

अर्जुन, तुमने शोक के अयोग्यों का शोक किया है । वे असुरावेश हैं । भूभार हरण के लिये तो मैं मारूँगा ही । वे भक्त नहीं हैं । उनका शोक कर तू बुद्धिमानों की सी बात कर रहा है । उनके वादों को ही तू उद्धृत कर रहा है, पर प्रज्ञावान् नहीं है । क्योंकि प्रज्ञावान् पंडित जानते हैं कि सब कुछ मेरी इच्छा से ही होता है । अतः वे गत प्राणों की परलोक में क्या दशा होगी और जीवितों की रक्षा कैसे होगी इसकी चिन्ता नहीं करते । श्रुति भी प्रमाण है—'एष एव तं साधुकर्म' वह परमात्मा जिनको ऊँचा उठाना चाहता है, अच्छे काम करवाता है । जिन्हें नीचे ले जाना चाहता है, उनसे असाधु कर्म करवाता है ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।१२।।

अशोच्यत्वे अभक्तत्वं हेतुमुक्त्वा पुनरशोच्यत्वे हेत्वंतरमाह नत्विति ।

अहमेतादृशो यादृशं त्वं द्रक्ष्यसि तादृशो जातु कदाचिदपि नासमिति न किं त्वेवं भूतः । सर्वदैवाऽऽसम् अस्मीत्यर्थः । एतेन स्वस्य नित्यत्वमुक्तं ननु त्वन्नित्यत्वे कथमेते शोकानर्हा इत्यत आह ।

नत्वमासीः । न च इमे जनाधिपा आसन्निति न किं तु सर्वं मल्लीलारूपत्वान्नित्यमेवेत्यर्थः । तेनासुराणां मरणमपि नित्यमेवेत्यर्थः । तस्मादेते माया एवेति शोकानर्हा इति भावः । नन्वहं युद्धे मरिष्ये चेत्तदा भगवच्चरणवियोगो भविष्यत्यधर्माचरणाद्वा तथा भविष्यतीति शोचामीति चेत्तत्राह ।

नचैवेति । अतः परं वर्त्तमानकालानन्तरं सर्वे वयं न भविष्याम इति न किंतु भविष्याम एव । एवं सर्वस्य नित्यत्वात्सर्वेऽशोच्या इति त्वं शोकं कर्त्तुं नार्हसि इति भावः ।।१२।।

अशोच्यत्व में हेत्वन्तर 'नत्वे' जैसा तुम मुझे देख रहे हो वैसा मैं कभी न था ऐसा नहीं है, अपितु सर्वदा ही था । इससे अपना नित्यत्व कहा है ।

यदि यह कहें कि तुम्हारे नित्य होने पर ये शोक योग्य क्यों नहीं, तो कृष्ण की उक्ति है 'नत्वमासीः' न तुम थे, न जनाधिप थे, ऐसा भी नहीं है, अपितु मेरी लीलारूपता के कारण यह सब नित्य ही है । असुरों का मरण भी नित्य है । अतः यह माया ही है, माया का प्रभाव बड़ा बलवान् है अतः शोक नहीं करना चाहिये ।

यदि यह शंका हो कि मैं युद्ध में मर जाऊँगा तो आपके चरणों का वियोग होगा अथवा अधर्माचरण से ऐसा होगा अतः शोक करता हूँ । अतः कहा है 'न चैव' । इसके पश्चात्—वर्तमान काल के पश्चात् हम न होंगे—यह बात भी नहीं है, अपितु अवश्य होंगे । सब नित्य हैं अतः किसी का शोक उचित नहीं ।।१२।।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।१३।।

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

ननु वयमेकत्रैव भविष्याम इति सत्यं परंतु पुनरलौकिको देह एतादृश एव भविष्यति नवेति संदेहात् शोचामीत्याकांक्षायामाह देहिन इति ।

देहिनो जीवस्य यथास्मिन्देहे कौमारं यौवनं जरा अवस्थात्रयं भवति कालेन तथा भगवदिच्छया भगवदीयस्य देहांतरप्राप्तिरलौकिक द्वितीय देह प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः । धीरो भक्तस्तत्र देहप्राप्त्यर्थं न मुह्यति मोहं न प्राप्नोतीत्यर्थः नन्वग्रे देहाप्तिरपि भविष्यति परं किंचित्कालं भवति भोगदुःखासहिष्णुत्वाच्छोचामीति चेत्तत्राह 'मात्रास्पर्शा' इति ।

हे कौन्तेय, परमस्निग्ध ! मात्रा स्पर्शा इन्द्रियवृत्तिविषयसंबंधाः शीतोष्णसुखदुःखदा भवंति । अत्रायमर्थः इन्द्रियवृत्तिस्पृष्टा जलातपादयो शीतोष्णदा भवंति । तथा मित्रसंयोगविप्रयोगादयश्च सुखदुःखदाः भवंति । संयोगे स्वस्य सुखं भवति । विप्रयोगे च दुःखं तत्रस्थसुखदुःखादिकं न विचारणीयम् । किंतु मित्रसुखविचारेण स्वस्य तत्सहनमेवोत्तममुचितं यतस्ते न स्थिरा इत्याह । आगमापायिन इति । आगमापायिनः आगच्छंत्यपयान्ति च अतएव अनित्याः अतस्तान् तितिक्षस्व सहस्व भारतेति संबोधनात्सर्वेतदुचितमिति ज्ञापितम् ॥१३-१४॥

शंका—हम एकत्र ही रहेंगे यह सत्य हो, किन्तु अलौकिक देह ऐसा ही होगा या नहीं इस सन्देह से पूछता हूं ।

जीव की इस देह में कौमार, यौवन, जरा तीन अवस्था होती हैं । इसी प्रकार काल से, भगवद्इच्छा से, भगवदीय की अलौकिक द्वितीय देह प्राप्त होती है । धीर=भक्त उस देह प्राप्ति के लिये मोह नहीं करता । यदि आगे देहाप्ति माने तो वह कुछ काल को ही होगी, भोग के दुःख सहन योग्य नहीं इसीलिये शोक करता हूं । अतः कहते हैं—

हे कौंतेय ! अर्थात् परम स्नेही, इन्द्रिय वृत्ति विषय संबंधी शीत-उष्ण सुख-दुःखदायी होते हैं ।

My dear

भाव यह है कि इन्द्रियवृत्ति से स्पष्ट जल, आतप आदि शीतोष्ण दायक होते हैं । मित्र संयोगवियोगादि सुख-दुःख देने वाले होते हैं । संयोग में अपनों को सुख होता है । वियोग में दुःख होता है । अतः इसके सुख-दुःखादि का विचार करना उचित नहीं है । मित्र सुख के विचार से उसका सहन ही उचित है, क्योंकि वे स्थिर नहीं हैं । आगमापयि=आने जाने वाले हैं । अतः उन सुख-दुःखों को अनित्य कहा गया है । उन्हें सहन करना चाहिये । भारत संबोधन का आशय है विशेषतः तुम्हें द्वन्द्व सहना उचित है ॥१३-१४॥

यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

नन्वेतेषां सहनं किं फलकमित्याकांक्षायामाह यं हि न व्यथयत्येत इति हे पुरुषर्षभ पुरुषश्रेष्ठ स्वतंत्रमोक्षसाधनकारणसमर्थ यं पुरुषं समदुःखसुखं समे दुःखसुखे वियोगसंयोगौ यस्यैतादृशं धीरं तत्सहनसमर्थमेते मात्रास्पर्शाः न व्यथयति न पराभवति । स पुरुषः अमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते यद्वा मोक्षभावाय भक्त्यर्थं कल्पते योग्यो भवति । भक्तिप्राप्तियोग्यो भवतीत्यर्थः ।

समदुःखसुखत्वेन तदिच्छया सर्वमानंदरूपमेवाभाति इति व्यंजितम् ॥१५॥

इनके सहन का लाभ हे पुरुष श्रेष्ठ=(स्वतन्त्र मोक्ष साधन कारण समर्थ) जिस पुरुष को सुख दुःख सम है, वियोगसंयोग भी वैसे ही हैं उस धीर पुरुष को मात्रा स्पर्श पराभूत नहीं करते । वह पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है अथवा मोक्षभाव के लिये भक्ति के योग्य बनता है अर्थात् भक्ति प्राप्ति के योग्य होता है ।

सुख दुःख समान होने के कारण आनन्द रूप ही रहता है, यहाँ यह व्यंजित है ॥१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

ननु दुःखादिसहनादेतद्देहनाश एव स्याद्देहनाशेन मोक्षस्तु नापेक्षित एव ततः किं दुःखसहनेनेत्याशंक्याह । नासत इति ।

असतो लौकिकस्य भावोऽलौकिको न विद्यते सतः अलौकिकस्य भगवत्सत्तात्मकस्त नाभावो नाशो न विद्यते इत्यर्थः । अत्र निदर्शनं गोपिका एकास्त्वंतर्गृहगताः । द्वितीयास्तु भगवद्रासलीलागतास्तदाहुः । उभयोरपीति ।

तु शब्दः त्वद्दर्शननिवारणार्थः अनयोरुभयोरपि तत्त्वदर्शिभिः भगवद्दर्शनयोग्यैर्भगवदीयैः । अन्तो दृष्टः तत्फलं दृष्टमित्यर्थः ।

त्वमपि तथाचेदिच्छसि तदा सुखदुःखादि सहस्व । नैतावता भगवद्योग्यदेहादिनाशो भविष्यतीति भावः ॥१६॥

शंका—दुःखादि के सहन से तो देह नाश ही हो जायगा । देहनाश से मोक्ष होती नहीं तो दुःख सहन से ही क्या लाभ ! इसका उत्तर देते हुए कहा है—

असतः=लौकिक का अलौकिक भाव नहीं । अलौकिक=भगवत् सत्तात्मक का नाश नहीं होता । इसमें गोपियाँ ही दृष्टान्त हैं । रासलीला के समय एक गोपी घर में बन्द थी । दूसरी गोपी रासलीला में पहुँची थी । इन दोनों का भगवद्दर्शनयोग्यों ने अन्त=फल देख लिया है । तुम भी वैसा ही चाहते हो तो द्वन्द्व सहन करो । इससे भगवद् योग्य देहादि का नाश न होगा, यह भाव है ॥१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

नन्वलौकिकत्वाद्देहनाशो मास्तु । परं तत्संबंधिसमर्पितसेवाद्युपयुक्तपदार्थानां नाशः स्यात्तदर्थमुत्कटपापभयं भवतीति शोचामि इति चेत्तत्राह अविनाशित्विति ।

येनभगवात्मकभगवदीयदेहेनेदं सर्वं ततं व्याप्तं सेवादियोग्यं वस्तु तदलौकिकं शरीरं अविनाशि नाशरहितं विद्धि जानीहि ।

तु शब्दो नाशसंभावनाव्यावृत्तिं ज्ञापयति । अस्याव्ययस्य स्वरूपस्य विनाशं कश्चित् पापाद्युपाधिजन्यकालादिः कर्तुं नार्हति न समर्थोऽस्तीत्यर्थः ॥१७॥

शंका—अलौकिक होने से देह नाश न हो परन्तु तत्संबंधित समर्पित सेवादि उपयुक्त पदार्थों का नाश तो होगा और उत्कट पाप भय भी होगा, अतः सोच करता हूँ ।

यह अनुचित है—जिस भगवदीय देह से यह सब सेवादियोग्य वस्तु व्याप्त है वह अलौकिक शरीर नाश रहित है, यह जानो ।

यहाँ 'तु' शब्द नाश संभावना की व्यावृत्ति का बोधक है ।

इस अव्यय स्वरूप का विनाश पापादि उपाधि जन्य कालादि से संभव नहीं है ॥१७॥

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्धयस्व भारत ॥१८॥

ननु देहादिनाशः प्रत्यक्षमनुभूयमानः किं रूप इत्याशंकायामाह अंतवंत इति ।

नित्यस्य जन्ममरणशून्यस्य शरीरिणो जीवस्य जीवभावनाभिलाषप्राप्तमायासंबंधिन इमे देहा लौकिकाः परिदृश्यमानाः भीष्मादीनां सर्वेषां चांतवंतः अंतयुक्ता उक्ता इत्यर्थः ।

अनाशिनो विनाशहीनस्याप्रमेयस्योपायसहस्रैरपि प्रमातुमयोग्यस्य भगवतः संबंधिनः शरीरिणो जीवस्य भगवदीयस्य देहस्तु नांतवंत इत्यर्थः ।

सर्वेषामेवांतवत्त्वकथने तु पूर्वोक्तवचनैर्विरोधः स्यात् । अतएव तेषु भिन्नत्वज्ञापनार्थमेव इम इत्युक्तवान्प्रभुः । तस्मादेतेषां मारणेन पापसंभावना नास्तीति युद्धयस्व युद्धं कुर्वित्यर्थः । भारतेति संबोधनमुक्तवचनविश्वासार्थं यतः सत्कुलोत्पन्नस्यैवंभूतभगवद्वाक्ये विश्वासो भवति ॥१८॥

शंका—देहादि नाश का रूप क्या है ? जन्ममरण शून्य जीवात्मा की माया सम्बन्धी देह लौकिक देखी गई है। भीष्मादि की देह भी अन्त युक्त कही गई है। विनाश हीन, अप्रमेय, जानने योग्य भगवान् सम्बन्धी भगवदीय जीवों की देह का नाश नहीं होता। सबका अन्त होता है इस कथन से पूर्वोक्त वचन में विरोध आता है। इनसे भिन्नत्व बतलाने के लिये ही प्रभु ने कहा है—अतः इनके मारने से पाप की संभावना ही नहीं है। युद्ध करो।

भारत संबोधन सार्थक है, क्योंकि जो सत्कुल में उत्पन्न है वही भगवान् के वाक्य में विश्वास करता है ॥१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥१९॥

ननु तथापि जीवस्य भगवदंशत्वे कथं हननमत आह । य एनमिति ।

य एनं हन्तारं वेत्ति यश्च एनं हतं मन्यते तावुभावपि न विजानीतः अयं न हंति न वा हन्यते मदिच्छयैव सर्वं भवतीति भावः ॥१९॥

शंका—जीव तो भगवान् का अंश है अतः उसका वध तो कदापि उचित नहीं।

समाधान—जो इसे मारक मानता है या जो इसे हत मानता है, वे दोनों ही अज्ञ हैं। आत्मा न तो मारता है और न मारा जाता है। मेरी इच्छा से ही सब कुछ होता है ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

मारणादि संभावना तु जन्मादिभावे सति भवति तदेव नास्तीत्याह न जायत इति । जन्माभावो निरूपितः । न वा कदाचिन्म्रियते । अनेन मरण-

निषेधो निरूपितः । अयं भूत्वा भूयः न भविता । अत्रायमर्थः । मत् क्रीडनार्थं सृष्टो येन भावेन पूर्वं यथा विभावितः तथा तेनैव भावेन पुनर्न भविष्यति । तस्माद्यदर्थं मयोत्पादितस्तदेव मत्प्रीत्यर्थं कुर्यादन्यथा जन्मवैयर्थ्यं स्यात् । भूत्वेत्युक्तत्वात्जन्मशंकास्यात्तदर्थमाह । अजः न जायत इत्यर्थः मदंशत्वात् । एवंभूत एवायमित्याह नित्य इति । किं च । शाश्वतः मयि स्थित एव निरंतर-मेकभावात्मकः । किं च । पुराणः सर्वदैवमेव मत्सेवार्थं दासरूपः पुरापि नव एवेत्यर्थः । यदर्थमेतदुक्तं तदाह न हन्यत इति । हन्यमाने शरीरे गतोयं जीवस्तस्मिन्हते न हन्यते इत्यर्थः । अयमर्थः हन्यमाने अंतयुक्ते लौकिके देहे प्रविष्टं इत्यर्थः । हन्यमान इत्यनेन तदर्थं सूक्ष्मत्वं ज्ञापितं तस्माद्भगवदिच्छानुरूपकरणाज्ञाति भ्रमजन्योऽपि दोषः स्यादिति भावः ॥२०॥

मारणादि संभावना तो जन्मादि भाव होने पर होती है। वह भी युक्त नहीं।
वह न तो कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है।
यह होकर पुनः नहीं होगा इसका आशय है कि मेरी क्रीड़ा के लिये सृष्टि
में जिस भाव से पूर्व विभावित किया गया था उसी भाव से पुनः नहीं होगा। अतः
मैंने जिस हेतु उत्पन्न किया उसी हेतु—मेरी प्रीति के लिये यत्न करना चाहिये,
अन्यथा जन्म व्यर्थ होगा।

भूत्वा कथन से जन्म शंका उपस्थित होती है। इसका निराकरण करते हुए
कहा है कि मेरा अंश होने के कारण जीव जन्म नहीं लेता। वह नित्य है, शाश्वत
है, मुझ में ही स्थित है। एक भावात्मक है। सर्वदा मेरी सेवा के लिये दास रूप है।
पूर्व का होने पर भी नवीन है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी जीव नष्ट नहीं
होता।

हन्यमाने का भाव है लौकिक देह के प्रवेश हो जाने पर। भगवदिच्छा के
कारण भ्रम जन्य दोष भी नहीं है ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थं कं घातयति हंति कम् ॥२१॥

किं च अस्य मरणादिदोषबुद्धावज्ञानमेव कारणमित्याह वेदाविनाशिनमिति ।

अविनाशिनं विशेषविकाररहितं नित्यं सदैकरूपमजं जन्मादिरहितं मयैवलीलार्थं तथा कृतं अव्ययं नाशादिशून्यं यः एनं वेद स पुरुषः कथं केन साधनेन कं स्वयं प्रेरको भूत्वाऽन्येन घातयति न कमपीत्यर्थः स्वयं च कं हंति । न कंचिदित्यर्थः ॥२१॥

शंका—मारण आदि दोष का बुद्धि में रहना अज्ञान ही के कारण है अतः कहा गया है 'वेद' ।

जो इस जीव को विशेष विकार रहित, नित्य, एक रूप जन्मादि रहित और मेरे द्वारा ही लीला के हेतु किया गया नाशादि शून्य जानता है वह पुरुष किस प्रकार किस साधन से किसको प्रेरक बनकर अन्य का मारण करता है । अर्थात् किसी का नहीं । स्वयं किसी को नहीं मारता ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-
न्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

ननु भगवत्क्रीडार्थं सृष्टदेहादीनां मारणमपि दोषरूपमतः शोचामीति चेत्तत्राह वासांसीति । यथा जीर्णानि कार्यानुपयुक्तानि वासांसि विहाय नवानि कार्योपयोगीनि अपराणि पूर्वविलक्षणानि नरो गृह्णाति तथा जीर्णानि मत्क्रीडानुपयुक्तानि शरीराणि विहाय नवानि अन्यानि मत्क्रीडार्थं विलक्षणरसोत्पादकानि देही संयाति मदिच्छया प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२२॥

शंका—भगवान् की क्रीडा के हेतु रचे गये देहादि का मारण भी दोष रूप है, अतः शोक होना स्वाभाविक है । इसका उत्तर है 'वासांसि' ।

जिस प्रकार कार्य के अनुपयुक्त वस्त्रों को छोड़कर नवीन वस्त्रों को मनुष्य धारण करता है उसी प्रकार मेरी क्रीड़ा के हेतु अनुपयुक्त शरीरों को त्याग कर मेरी क्रीडा के हेतु विलक्षण रसोत्पादक देह को मेरी इच्छा से देही प्राप्त करता है ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

तस्मात्त्याज्यदेहस्य दूरीकरणेऽप्येनमविनाशादिधर्मयुक्तत्वात् शस्त्रादयो न छिदंतीत्याह नैनं छिदंतीति । एनं शस्त्राणि न छिदंति घनाभावात् । एनं पावकः न दहति । शुष्कधर्माभावात् । आपः एनं न क्लेदयंति । मृदुत्वान्न शिथिलयंति । काठिन्यादिराहित्यात् । मारुतः न शोषयति द्रवाभावादित्यर्थः । तस्मात् शस्त्रादि प्रक्षेपेऽप्यस्य न किमपि भविष्यति इदमपि मत्क्रीडारूपमतो-मत्संतोषार्थं युद्धादिकं कर्त्तव्यमिति भावः । एतेषां सर्वेषां तथाकरणे मदिच्छैव हेतुरितिभावः । यतो भगवदिच्छैव सर्वेषां स्वधर्मकरणे शक्तिः । अतएव श्रीभागवते (३।२५।४२) उक्तम् ।

मद्भयाद्वाति वातोऽयम् । इत्यादि ॥२३॥

अतः त्याज्य देह के दूर करने के हेतु भी इसे अविनाशित्वादि धर्मयुक्त होने के कारण शस्त्रादि काटने में समर्थ नहीं ।

इस जीव को घनत्व के अभाव के कारण शस्त्र नहीं काट सकते । शुष्क धर्म के अभाव के कारण अग्नि दग्ध नहीं कर सकता । जल इसे गला नहीं सकता । वह तो स्वयं मृदु है । काठिन्य का ही मृदुत्व जल द्वारा होता है । द्रवाभाव होने के कारण पवन इसे सुखा नहीं सकता । अतः शस्त्रादि प्रक्षेप से भी कुछ न होगा । इसे भी मेरा क्रीडा रूप मानकर मेरे संतोष के लिये युद्धादि करना उचित है । इन सबके करने में मेरी इच्छा ही हेतु है । भागवत में लिखा भी है—

"मेरे भय से पवन चलता है," आदि भा० ॥३।२५।४२॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अव्यक्तो यमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।

एते छेदनादिधर्मयुक्ता अपि मदिच्छां विना तन्न कुर्वंति मदिच्छयैव च त्याज्यदेहादिषु तथा कुर्वंत्यतस्त्वमप्येतेष्वच्छेद्यादिधर्मान् ज्ञात्वा प्रवृत्तो भवेत्युक्त्वाऽच्छेद्यत्वादिधर्मानाह अच्छेद्य इति । अच्छेद्यादिधर्मवानयमित्यर्थः । अच्छेद्यादिधर्मवत्वे कारणमाह ।

नित्यः अविनाशी, सर्वगतः व्यापकः, स्थाणुः स्थिरभावः । अचलः सर्वदैकरूपः, सनातनः अनादिः । अव्यक्तो लौकिकेंद्रियाग्राह्यः । अचिंत्यो मनसोऽप्यगम्यः । अविकार्यो विकाररहितः कर्मभिर्वाऽविकार्यः अयं सर्वत्र व्यापकत्वेन प्रत्यक्षतयोक्तः उच्यते वेदैस्तद्रूपश्चेत्यर्थः यदर्थमेतदुक्तं तदाह । तस्मादिति ।

तस्मादेनं पूर्वोक्तधर्मवंतं विदित्वा अनुशोचितुं नार्हसि ।।२४-२५।।

ये छेदनादिधर्म वाले हैं फिर भी मेरी इच्छा के बिना वैसा नहीं करते हैं । अतः तू भी इनमें अछेद्यादि धर्म जानकर प्रवृत्त हो ।

अछेद्यादि धर्म कहते हैं । अछेद्यादि धर्मवान् है यह । कारण वह नित्य है, सर्व व्यापक है, स्थिर स्वभाव है, सर्वदा एक रूप है, अनादि है तथा लौकिक इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है । मन से भी अगम्य है विकार रहित है अथवा कर्मों से अविकार्य है । अतः पूर्वोक्त धर्मयुक्त होने के कारण उसका शोच करना उचित नहीं है ।।२४-२५।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

एवं विद्वत्सिद्धान्तमुक्त्वाऽविद्वत्सिद्धान्तेनापि शोकं कर्तुं नार्हसीत्याह अथ चेति ।

अथ च पक्षांतरेण । एनं नित्यजातं तत्तद्देहेन सहजातं तस्मिन्मृते च मृतं वा मन्यसे तथापि त्वं एनं शोचितुं नार्हसि । यतस्त्वं महाबाहुः अत्रायमर्थः । नित्यस्यास्य जन्ममरणज्ञानं तु देहाध्यासेनैव भवति । तथासति स्वबाहुबलादिनाशः क्व ।।२६।।

अविद्वानों के सिद्धान्त से भी शोक करना अनुचित है । यदि आत्मा को देह के साथ जन्म और देह के साथ मरण वाला भी माना जाय तब भी अशोच्य है । क्योंकि तुम महाबाहु हो । आत्मा नित्य है, इसका जन्म मरण ज्ञान भी देह के अध्यास से ही होता है ऐसा मानने पर स्व बाहुबलादि नाश की संभावना ही कहां ? ।।२६।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७।।

ननु स्वसमानाभावान्निर्बले तु शोकः कर्तव्य एवेति चेत्तत्राह । जातस्येति ।

जातस्य देहस्य मृत्युर्ध्रुवः । मृतस्य ध्रुवं जन्म भवतीत्यर्थः । अत्रायमर्थः । जातस्य गृहीतजन्मनो येन मृत्युर्निमितस्तस्य तेनैव मृत्युर्ध्रुवः निश्चितस्तस्माद्येषां मृत्युस्त्वयैव निमितः स च तथैव भविष्यति । तस्माद्यद्यथा ईश्वरनिमितं तत्तथैव भविष्यतीत्यपरिहार्ये सर्वथाभाव्येर्थे त्वं न शोचितुं योग्योसीत्यर्थः । हीति युक्तोयमर्थः । ईश्वरकृतं कोऽन्यथा कर्तुं समर्थः ।।२७।।

शंका—यदि अपने समान न हो, निर्बल हो, तो उसका शोक करना चाहिये ।

उत्तर—जिस देह का जन्म होता है उसकी मृत्यु निश्चित है । जो मरता है उसका जन्म ध्रुव है । भाव यह है कि जन्म गृहीता की मृत्यु जिससे लिखी है उसी से निश्चित होगी । अतः जिनकी मृत्यु तेरे द्वारा है, तो वह होकर ही रहेगी । फलतः जो ईश्वर निमित है वह होगी ही ।

अपरिहार=जो दूर न की जा सके उसके अर्थ शोक व्यर्थ है । ईश्वर कृत को अन्यथा कोई नहीं कर सकता ।।२७।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ॥२८॥

नन्वीश्वरोत्पादितानां देहानां स्वस्य नाशकरणमनुचितमित्याशंक्य देहानामुत्पत्तिस्थितिप्रलयविचारेणापि शोकाभावमाह । अव्यक्तादीनीति ।

अव्यक्तं अक्षरमादिरुत्पत्तिर्येषां तानि अव्यक्तादीनि भूतानि शरीराणि । व्यक्तं जगत् तदेव मध्यं स्थितिरूपमुत्पत्तिलययोर्मध्यं येषां तानि । अव्यक्ते अक्षर एव निधनं लयो येषां तानि तथा ।

तत्र तेषु का परिवेदना का चिन्तेत्यर्थः । अत्रायमर्थः । यत उत्पत्तिस्तत्रैव नाशे शोकः स्वस्याऽनुचित इत्यर्थः । स्वस्यापि तन्मारणानन्तरं न नरकादि संभावना यत उत्पत्तिस्थल एव स्वस्यापि नाशो भविष्यति ॥२८॥

शंका—ईश्वर द्वारा उत्पादित देहों का नाश करना अनुचित है ।

उत्तर—देहों की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय की विचारणा से भी शोक करना उचित नहीं है । अव्यक्त=अक्षर जिनके पूर्व में है ऐसे भूत=शरीर, व्यक्त=जगत् ही मध्य है अर्थात् स्थिति रूप है । (उत्पत्ति-प्रलय के मध्य है) और इनका अव्यक्त=अक्षर में लय है । इनकी चिन्ता व्यर्थ है ।

जिससे उत्पत्ति है, उसी में नाश है तो अपने को शोक करना व्यर्थ है । अपनी भी उसे मारने के अनन्तर नरकादि की संभावना नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति स्थल में ही अपना भी नाश होगा ॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

नन्वेवं चेत्तदा विद्वांसः पापकर्मणा नरकसंभावनया कथं शोचंतीत्याशंक्याह आश्चर्यवदिति । एनं कश्चिदाश्चर्यवत् पश्यति । शास्त्रार्थज्ञानान्नित्यमव्यक्तादिरूपं जानन् । जन्मादिभावदर्शनादाश्चर्यवन्मायाकृतेन्द्रजालवत्पश्यतीत्यर्थः ।

एतेषां जन्मादिभावास्तु मदिच्छयात मत्क्रीडार्थका इति आश्चर्यवदित्युक्तम् । तथैव च मन्मायया मोहितः कश्चिदाश्चर्यवद्वदति । अन्यान् बोधयतीत्यर्थः । अन्यश्च श्रोता स्वतो ज्ञानरहितः । आश्चर्यवत् शृणोति श्रुत्वाप्येनं यथार्थमिदमित्युक्त्वा न वेद वै निश्चयेनैतत्त्रितयेषु कोपि न वेद न ज्ञानवानतोऽज्ञानात्तेपि शोचंतीतिभावः ॥२९॥

शंका—यदि ऐसा है तो विद्वान् नरक की संभावना से शोक क्यों करते हैं ?

उत्तर—इस आत्मा को कोई आश्चर्यवत् देखता है, शास्त्रार्थ ज्ञान से नित्य अव्यक्तादि रूप जानता हुआ जन्मादि भावदर्शन से मायाकृत इन्द्रजाल की भांति देखता है । इनके जन्मादि तो मेरे क्रीडन के लिये है । अतः इसे आश्चर्यवत् कहा है । इसी प्रकार मेरी माया से मोहित होकर कोई आश्चर्यवत् बोलता है । अर्थात् अन्य जीवों को बोध कराता है । स्वतः ज्ञान रहित श्रोता आश्चर्यवत् सुनता है । सुनकर भी उसे यथार्थ नहीं जानता । इन तीनों में उसे कोई नहीं जानता, अतः शोक करते हैं ॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

पूर्वोक्तमुपसंहरन् शोकाभावमुपदिशति देहीति ।

देही सर्वस्य देहे अवध्यस्तस्मात्सर्वाणि भूतानि जातदेहानि न तु देही जायत इति त्वं शोचितुं नार्हसि ।

भारतेति संबोधनात्तथाज्ञानभवत्वं बोध्यते ॥३०॥

उपसंहार में शोकाभाव । देही तो सबकी देह में अवध्य है । अतः समस्त भूत देह धारण करते हैं । देही उत्पन्न नहीं होता अतः तुम शोक मत करो ।

भारत कथन अर्जुन की ज्ञानवत्ता के लिये है ॥३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

एवमात्मस्वरूपज्ञानेन शोको न कर्त्तव्य इत्युक्त्वा स्वधर्मादपि मा शुच इत्याह स्वधर्ममपीति ।

स्वधर्मं क्षात्रमवेक्ष्य विकम्पितुं नार्हसि यतः क्षत्रियाणामयमेवोत्तमो धर्म इत्याह । धर्म्यादिति ।

धर्म्याद्युद्धादन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयो न विद्यते, क्षत्रियाणां परलोकादिकं स्वनेनैव भवति ॥३१॥

आत्मस्वरूप ज्ञान से शोक करना अनुचित है इसे बतलाकर अब अपने धर्म के कारण भी शोक का अनौचित्य बतलाते हैं ।

क्षात्रधर्म को देखकर कम्पित होना ठीक नहीं, क्योंकि क्षत्रियों का यही उत्तम धर्म है । धर्मयुद्ध से बढ़कर क्षत्रिय का और कुछ श्रेय नहीं है । क्षत्रियों को परलोकादि इससे ही होता है ॥३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम ॥३२॥

तस्मादेतादृशं भाग्यवन्त एव लभन्त इत्याह यदृच्छयेति । यदृच्छया भगवदिच्छया उपपन्नम् अपावृतमुद्घाटितकपाटस्वर्गद्वारं ईदृशं युद्धं क्षत्रियाः सुखिनो भाग्यवन्तो लभन्ते प्राप्नुवंति । एतादृशयुद्धाऽसौ भाग्यवत्वं भगवदिच्छयानुरूपत्वाद्भगवत्सन्निधित्वाच्चेति भावः ॥३२॥

इसे भाग्यवान् ही प्राप्त करते हैं । भगवान् की इच्छा से प्राप्त स्वर्गद्वार वाले युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं । ऐसे युद्ध में भगवान् की इच्छा के अनुरूप भगवान् की सन्निधि होने के कारण भाग्यवान् कहा जाता है ॥३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

एवं स्वधर्मविक्षणेन मदुक्तसंग्रामाऽकरणे तव बाधकं स्यादित्याह अथचेदिति ।

अथ स्वधर्मविक्षणानन्तरमपि इमं मदग्रे धर्म्यं मदाज्ञारूपं संग्रामं चेन्न करिष्यसि तदा स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसीत्यर्थः ॥३३॥

इस प्रकार अपने धर्म को देखकर मदुक्तसंग्राम के न करने से तुझे बाधकता होगी । मेरे कहे अनुसार न चलने से स्वधर्म और कीर्ति को छोड़कर पाप प्राप्त करोगे ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

किं च । पापात्परलोकनाश एव भविष्यतीति न किंत्विहलोकेऽप्यपकीर्तिर्भविष्यतीत्याह अकीर्तिञ्चापीति । भूतानि अपि ते अकीर्तिमव्ययां सदानुवर्त्तमानां कथयिष्यंति । भूतानीति नपुंसकलिंग कथनेन तथा कथनाऽयोग्या अपि कथयिष्यंतीति व्यंजितम् । नन्वकीर्तिकथनेन किं स्यादित्यत आह । संभावितस्येति । संभावितस्य युद्धादौ अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते अधिका भवतीत्यर्थः ॥३४॥

पाप से परलोक नाश ही होगा, इतना ही नहीं, किन्तु इस लोक में भी अपकीर्ति होगी । प्राणी भी तेरी सदा अनुवर्तमान अकीर्ति को कहेंगे । भूतानि में नपुंसक लिंग है इसका भाव है कि कथन अयोग्य भी कहेंगे । अकीर्ति कथन से क्या होगा—

१ संभावित की युद्ध में अकीर्ति मरण से भी अधिक होती है ॥३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वो यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

ननु पूर्वं ये त्वद्दृष्टमल्पीरुषास्ते तु न तथा कथयिष्यंति किंत्वज्ञा एव तेषां कथनेपि किं स्यादित्यत आह भयादिति। ये महारथास्ते त्वां रणाद्भयादुपरतं निवृत्तं मंस्यंते। ननु मम भयाभावात्तेषां माननेपि किं भविष्यतीत्यत आह। येषां च त्वमिति सार्द्धेन। त्वं येषां बहुमतः संभावितगुण आसीस्ताहशो भूत्वा लाघवं यास्यसि ॥३५॥

शंका—पुरुषार्थ द्रष्टा ऐसा नहीं कहेंगे, अज्ञ ही कहेंगे और उनके कथन से भी क्या लाभ ?

उत्तर—महारथी तुझे रणभूमि से निवृत्त मानेंगे। मेरे भयाभाव से उनके मानने से भी क्या होगा ? इनके उत्तर में कहते हैं कि तुमको जो अनेक गुणयुक्त मानते हैं उनकी दृष्टि में तुम लघु हो जाओगे ॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुखःतरं नु किम् ॥३६॥

किं च। तव सामर्थ्यं निंदन्तस्तवाऽहिताः शत्रवः बहून् अवाच्यवादान् कथनायायोग्यानि वाक्यानि वदिष्यंति। नु इति निश्चयेन ततो दुःखतरं किं। न किमपीत्यर्थः ॥३६॥

तेरी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तेरे शत्रु अनेक न कहने योग्य वाक्यों को कहेंगे।

नु—यह निश्चय है। इससे भी बड़े दुःख की क्या बात होगी ॥३६॥

हतो वा प्राप्यसि स्वर्गंजित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

ननु युद्धे मरणसंभावनायां दुःखसंभावनायां च किमपकीर्त्यादिनेति चेत्तत्राह हतो वेति। वा विकल्पेन हननसंभावनाभावात्। कदाचिद्धतश्चेत्तदा स्वर्गं प्राप्स्यसि जित्वा वा दुःखादिसंभवेपि महीं भोक्ष्यसे तदा दुःखनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः। तस्माद्युद्धाय कृत निश्चयः सन्नुत्तिष्ठ उपस्थितो भवेत्यर्थः ॥३७॥

शंका—युद्ध में मृत्यु की संभावना से, दुःख संभावना से अपकीर्ति का क्या महत्व ?

उत्तर—न मार सके और स्वयं मर गये तो स्वर्ग प्राप्त करोगे। यदि तुम जीत गये तो पृथ्वी को भोगोगे और तब दुःख निवृत्ति भी हो जायगी। अतः युद्ध के लिये निश्चय कर खड़े हो जाओ ॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

मया पूर्वं पापसंभावना कृता तत्र का गतिरित्याशंक्याह सुखदुःखे इति।

सुखदुःखे देहस्य लाभालाभौ राजस्य जयाजयौ यशसः। समौ कृत्वा हर्षविषादरहितः सन् ततस्तदनंतरं मदाज्ञाविचारेण युद्धाय युज्यस्व युक्तो भव। एवंकृते पापं नावाप्स्यसीत्यर्थः ॥३८॥

मैंने पहले पाप संभावना की, उसकी क्या गति है यह शंका की है।

उत्तर—सुख-दुःख देह के हैं। लाभालाभ राज्य के, जय अजय यश के, इन्हें समान बनाकर हर्ष-विषाद से रहित होकर मेरी आज्ञा का विचार कर युद्ध के लिये युक्त हो। (ऐसा करने से पाप नहीं होगा।) ॥३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

एवं सांख्यमात्मज्ञानात्मकमुपदिश्योपसंहरति एषेति। एषा पूर्वोक्ता ते तव सांख्ये आत्मानात्मप्रकाशके बुद्धिः करणार्थमभिहिता। सांख्यस्य भगवतो विप्रयोगरसात्मकं कुंडलरूपत्वात्तत्र भगवदात्मकात्मज्ञानेन न स्वास्थ्यं भवति तस्मादात्मज्ञानबुद्धिरभिहिता उक्तेत्यर्थः तज्ज्ञानार्थमेव एतच्छ्रवणेपि चेत्तव न ज्ञानं जातं तदा कर्मयोगेन मोहो निवर्तिष्यत इति कर्मयोगं शृण्वित्याह। योग इति।

योगे तु इमां बुद्धिं शृणु यया बुद्धया युक्तः सन् पार्थ मद्भक्तवर कर्म-

बन्धं कृतकर्मपापं प्रहास्यसि त्यक्ष्यसीत्यर्थः त्यागे प्रकर्षः पुनस्तद्भावानुदयः ।।३९।।

इस प्रकार आत्मज्ञानात्मक सांख्य का उपदेश कर उपसंहार वाक्य कहते हैं ।

यह पूर्वोक्त तेरे लिये सांख्य में आत्म-अनात्म प्रकाश बुद्धि करणार्थ कहा है । सांख्य भगवान् का विप्रयोगरसात्मक कुण्डल है, अतः भगवत् स्वरूपी आत्मज्ञान से स्वास्थ्य नहीं होगा । इसलिये आत्मज्ञान बुद्धि कही है । इस आत्मज्ञान श्रवण से भी यदि तेरी ऐसी बुद्धि नहीं तो कर्मयोग से मोह की निवृत्ति हो जायगी अतः कर्मयोग सुन ।

योग में तो इस बुद्धि को सुनो, जिस बुद्धि से युक्त पार्थ=मेरे भक्तवर तुम कृतकर्म पाप का परित्याग भी कर दोगे ।।३९।।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।४०।।

ननु कर्मणां बाहुल्यात्कालादिसाध्यत्वाच्च कृतानां पूर्णत्वाभावाद्वैकल्यं प्रत्युतांगवैगुण्यादिना प्रत्यवायादिसंभावना भवेदिति कथं बन्धो न भविष्यतीति चेदित्याशंक्यार्जुनस्य भगवत्कुंडलात्मक संयोगरूप योगस्वरूपाज्ञानात्तज्ज्ञानार्थं तत्स्वरूपमाह नेहाभिक्रमनाश इति ।

भगवन्मार्गे भगवदर्थं भगवदाज्ञारूपेण कर्तव्यत्वं कर्मणां न तु फलसाधकत्वेन तस्मान्न पूर्वोक्तदोषसंभावनात्र । तदेवाह ।

इह मदाज्ञात्वेन क्रियमाणस्य कर्मणोऽभिक्रमनाशः प्रारब्धः कर्मनाशः नास्ति निष्फलत्वं न भवतीत्यर्थः प्रत्यवायश्च न विद्यते । यतोऽस्य धर्मस्य स्वल्पमपि कृतं महतो भयात् त्रायते । रक्षति । अत्रायं भावः । अन्यत्र कृतकर्मसाफल्यार्थं सांगत्वाय च भगवत्स्मरणं बोध्यते यस्य स्मृत्येत्यादिना तत्र साक्षाद्भगवदर्थं कृतानां कर्मणां कथं वैफल्यं भवेत् ।।४०।।

शंका—कर्म बहुत हैं और वे काल में परिपक्व होते हैं । जो किये गये है वे अपूर्ण हैं अतः वैकल्य अंगवैगुण्यादि से प्रत्यवाय की संभावना होगी । फलतः बन्ध क्यों न होगा ।

इस आशंका का समाधान भगवत् कुण्डलात्मक संयोग रूप योग स्वरूप के ज्ञानार्थ उसका स्वरूप कहते हैं । 'नेहाभिक्रम' ।

भगवन्मार्ग में भगवान् के लिये भगवदाज्ञा रूप कर्तव्य कर्म है, कर्म फल साधक नहीं । अतः पूर्वोक्त दोष संभावना नहीं है ।

क्रियमाण कर्म कभी निष्फल नहीं होता और इसमें प्रत्यवाय भी नहीं है क्यों इस धर्म को थोड़ा भी किया जाय तो बड़े भारी भय से रक्षा हो जाती है । अन्यत्र किये कर्मों की सफलता के लिये—सांगता के लिये, भगवान् का स्मरण करना चाहिये । 'यस्यस्मृत्या' से यह कहा भी है । साक्षात् भगवान् के लिये कर्मों का वैकल्य कैसे हो ।।४०।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।४१।।

किं च । फलार्थं कर्मकर्तॄणामनेकत्र बुद्धिर्भवति । मदाज्ञात्वेन कर्तॄणां मन्निष्ठत्वेनैकैव बुद्धिरिति भ्रमान्न वैपरीत्यशंकेत्याह व्यवसायात्मिका इति । हे कुरुनन्दन सत्कुलोत्पन्न इह भक्तिमार्गे व्यवसायात्मिका भगवदाज्ञयैव करिष्यामीति रूपैकैव भवति । अव्यवसायिनां बहिर्मुखानामनिश्चितहृदयानां बुद्धयोऽनंताश्च भवति । फलार्थं बहुशाखाश्च भवति । तत्र सांगत्वाभावात्प्रत्यवायादि संभावना स्यादेव भक्तानां तु सांगत्वान्नैव नैफल्यप्रत्यवायादि संभावना । अत एव भगवद्वाक्यम्—

मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि ।
तत्कर्म तस्य कुर्वंति तिस्रः कोटयो महर्षय ।। इति० ।।४१।।

फल के लिये कर्म करनेवालों की बुद्धि अनेक होती हैं । मेरी आज्ञानुसार करनेवालों की बुद्धि मुझ में ही रहती है इस भ्रम से वैपरीत्य शंका नहीं करनी चाहिये ।

हे कुरुनन्दन=सत्कुलोत्पन्न, इह=इस भक्ति मार्ग में व्यवसायात्मिका 'भगवदाज्ञा ही करूंगा' इस रूप में होती है ।

अनिश्चित हृदयों की बुद्धि अनन्त होती है । फलार्थ अनेक शाखा होती हैं ।

सांगत्व के अभाव से प्रत्यवायादि संभावना होगी। भक्तों की सांगता है अतः वैकल्य प्रत्यवायादि की संभावना नहीं है। भगवद्वाक्य भी है—

मेरे कर्म करनेवाले का यदि काल लोप होता है तो उसका कर्म तीन कोटि महर्षि करते हैं ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

नन्वेनं फलोत्तमतां ज्ञात्वा सर्वं एवमेव व्यवसायात्मिकां बुद्धिं कथं न कुर्वन्तीत्याशंक्याह यामिमामिति त्रयेण। ये इमां पुष्पितां यां वाचं फलादि रहितां कुत्सितपुष्पयुक्तलतावदद्दूरदृष्ट रम्यां प्रवदन्ति प्रकर्षेण फलरूपतया वदंति तेषां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते नोत्पद्यत इत्यर्थः। ननु तेऽपि शास्त्रोक्तज्ञानवन्तः कथं तथा वदंतीत्याकांक्षायामाह। अविपश्चित इति। मूर्खाः अज्ञाना इत्यर्थः। तेषां मूढ़त्वं विशेषणैः प्रकटयति। वेदवादरता इति वेदोक्तफलक कर्मकरणमेवोचित न तु निष्कामतया ते तथा। अतएव नान्यदस्तीति वादिनः वेदोक्त व्यतिरिक्त कर्मफलं नास्तीति वदनशीला: ॥४२॥

यदि ऐसी फलोत्तमता है तो सभी जन इस व्यावसायात्मिका बुद्धि को क्यों नहीं करते। इस पुष्पित वाणी को जिसमें फलादि नहीं। (जो कुत्सित पुष्पयुक्त लता की भांति अदूर से देखने में सुन्दर है।) उसकी प्रकर्ष फलरूपता कहते हैं, उनमें व्यवसायात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती।

शंका—ऐसे व्यक्ति भी जो शास्त्रोक्त ज्ञानवान् हैं, वे ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर—वे अज्ञानी हैं, वेदोक्त फल का कर्म करण ही उचित है, निष्काम नहीं। अतः वेदोक्त प्रतिकूल कर्मफल है ही नहीं, ऐसा क्यों कहते हैं ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

ननु तेषां तथा कथनं किं प्रयोजनकमित्याकांक्षायामाह। कामात्मान इति।

कामना व्याप्तरूपाः। ननु कथं कामनायां तुच्छफले प्रवर्तन्त इत्याशंक्याह। स्वर्गपरा इति।

स्वर्ग एव परो मोक्षरूपं येषां तेषाम्। स्वर्गस्य तथाज्ञानार्थं पूर्ववाचं विशिनष्टि। जन्मकर्मफलप्रदाम्। जन्म उत्तमयोनौ तत्रोत्तमं कर्म तथोत्तमफलं च तानि प्रकर्षेण ददाति तां तथा। भोगैश्वर्यगति भोगैश्वर्यप्राप्ति प्रति क्रियाविशेषा बहुला यस्यां तां तथा फलरूपां वदन्ति ॥४३॥

उनका कथन किस प्रयोजन से है—कामनाओं से व्याप्त है।

कामनाओं में तुच्छ फल क्यों ? वे स्वर्ग को ही मोक्ष मानते हैं। स्वर्ग के ज्ञान के लिये पूर्व वाक् को व्यक्त किया है।

जन्म—उत्तमयोनि में जन्म उसमें भी उत्तम कर्म तथा उत्तम फल उन्हें वह प्रकर्षता पूर्वक देता है। भोग ऐश्वर्य प्राप्ति के प्रति क्रियाविशेषा बहुला जिसमें उसे फल रूपा भी कहते हैं ॥४३॥

भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

ततो भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तेषां तया वाचा अपहृतचित्तानां समाधौ वैयग्रध भावेन भगवच्चिंतने तथा बुद्धिर्न भवतीत्यर्थः ॥४४॥

जो भोग-ऐश्वर्य में प्रसक्त होते हैं उनको उस वाणी से चित्त में उद्विग्नता होती है, समाधि में व्यग्रता आती है और भगवान् के चिन्तन में बुद्धि नहीं लगती ॥४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

ननु तेऽयज्ञाः वेदोक्तविषये प्रवर्तंते परं स्वर्गादीनां फलाभावे वेदः कथं बोधयतीत्याशंक्याह त्रैगुण्यविषया वेदा इति।

त्रैगुण्याः त्रिगुणसृष्टौ सृष्टा ये जीवास्तद्विषयास्तदर्थं स्वर्गादिफलककर्मबोधका वेदाः । न तु गुणातीतसाक्षाद्भगवत् क्रीडोपयिकभगवदीय सृष्ट्यन्तर्गतभगवद्भक्तविषया इत्यर्थः । भगवल्लीलासृष्टिस्तु निर्गुणा अतएव अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी इत्यादि श्रीवराह वचनम् । गुणातीतपुरुषोत्तमस्वरूपं तु वेदाद्य विषयमेव । अतएव श्रुतिराह—'नेति नेति', 'यतो वाचो निवर्त्तन्त' इत्यादि ।

यस्माद्वेदास्त्रिगुणविषयास्तस्मात् त्वं निस्त्रैगुण्यो भक्तो भवेत्यर्थः । निस्त्रिगुणस्य भावुको भवेति भावः । यद्वा । वेदास्त्रैगुण्यविषयाः त्रिगुणात्मक स्वरूपफलप्रतिपादका न तु साक्षाद्भगवत्संबंधप्रतिपादकाः । अतस्तथा बोधयन्तीत्यर्थः । ननु वेदास्त्रिगुणविषयाश्चेत्तदाऽस्माकमज्ञानानां का गतिरित्याशंक्याह निस्त्रैगुण्य इति । गुणातीतसद्धर्मैकपरो भवेति भावः । केन साधनेन तथात्वं भवेदित्याशंकायामाह । निर्द्वन्द्व इति ।

निर्गतानि द्वन्द्वानि सुखदुःखाहं ममेत्यादीनि तद्रहितो भव । सर्वं त्यक्त्वा भक्ति परो भव । तथात्वमपि कथमित्याकांक्षायामाह । नित्य सत्त्वस्थ इति ।

नित्यं सत्त्वं यस्मात्तस्मिन् गुणातीते स्थितो भव किंच निर्योगक्षेम इति । साधनासाध्यपरमाऽप्तवस्त्वभिलाषो योगः । स्वेच्छाप्राप्त वस्तुन्याऽऽप्तज्ञानेन स्वीकारो क्षेमस्तद्रहित आत्मवान् आत्मज्ञानवान् भवेत्यर्थः ॥४५॥

यदि यह कहा जाय कि वे लोग अज्ञानी हैं । वेदोक्त विषय में प्रवृत्त तो होते हैं किन्तु स्वर्गादि फलाभाव में वेद कैसे बोध कराता है इस आशंका में कहते हैं—त्रिगुणात्मिका सृष्टि में उत्पन्न हुए जीव भी तीनों गुणों के हेतु प्रयास करते हैं । वेद भी उनके लिये स्वर्ग आदि फल बोधक होते हैं ।

गुणातीत—साक्षात् भगवत् क्रीडोपयोगी भगवदीय सृष्टि के अन्तर्गत भगवद्भक्त विषय नहीं बनते । भगवान् की लीलासृष्टि निर्गुण है, अतः विधाता की वह सृष्टि कुछ अन्य ही है । वाराह ने भी कहा है । गुणातीत पुरुषोत्तम स्वरूप तो वेदादि का भी विषय नहीं है । श्रुति भी प्रमाण है—नेति, नेति । जहाँ से वाणी भी लौट आती है ।

वेद त्रिगुण विषय हैं अतः अर्जुन तुम त्रिगुण रहित बनो ।

निस्त्रिगुण का भावुक बन । अथवा वेद त्रैगुण्य विषयक हैं अतः त्रिगुणात्मक स्वरूप फल के प्रतिपादक हैं । साक्षात् भगवत् संबंध प्रतिपादक नहीं हैं, अतः वेद ऐसा बोध कराते हैं ।

वेद त्रिगुण विषय हैं तो हमारी अज्ञानियों की क्या गति होगी । भाव यह है कि गुणातीत सद्धर्म परायण बन । इसका साधन बतलाते हैं—'निर्द्वन्द्व' इति । सुख-दुःख अहं मम इनसे रहित बन । सब कुछ त्यागकर भक्ति परायण बन ।

भक्ति परायण कैसे बना जाय ?

गुणातीत में स्थित हो साधन साध्य परमाप्त वस्तु की अभिलाषा का नाम योग है । स्वेच्छा प्राप्त वस्तु को आप्त ज्ञान से स्वीकार करने का नाम क्षेम है । तद्रहित आत्मज्ञानवान् बनो ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

नन्वेनं वेदोक्ताकरणे कथं फलसिद्धिः स्यादित्याशंकायामाह यावानिति । उदपाने उदकं पीयतेस्मिन्नित्युदपानं जलपात्रं तस्मिन् यावानर्थः । सर्वतः संप्लुतोदके तडागे च भवति परं तत्र जलाहरणपात्ररक्षणादिक्लेशोधिक तथा यावानर्थो वेदोक्तकर्मफलं वेदेषु भवति । तावान् विजानतो ब्रह्मस्वरूपविदुषो ब्राह्मणस्य ब्राह्मैकनिष्ठस्य भवतीत्यर्थः । नैवं च श्रुति विरोधः । अतएव श्रुतिराह 'आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्' । 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' ॥४६॥

यदि ऐसा है तो वेदोक्त न करने से फल सिद्धि कैसे होगी इस आशंका का उत्तर है—उदपान = जलपात्र में जितना जल आता है उतना ही आयेगा चाहे वह परिपूर्ण तालाब में ही क्यों न डुबाया जाय । उसी प्रकार जितना अर्थ वेदोक्त कर्मफल वेद में होता है उतना ही ब्रह्म स्वरूपवेत्ता ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण को उपलब्ध होता है । इसमें श्रुति विरोध नहीं है । श्रुति में कहा है 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' और 'तमेव विदित्वा' ॥४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

नन्वेवं चेत्तर्हि किमिति कर्मकरणोपदेश इत्याशंक्याह कर्मण्येवाधिकारस्त इति । ते तव स्व पराहं मम ज्ञानयुक्तस्य कर्मण्येव अधिकारः । अस्तीति शेषः । अत्रायं भावः ।

यावत् पर्यन्तं स्वपरेति ज्ञानं तावन्न कर्मत्यागः । अतएव तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावतेत्याद्युक्तं श्रीभागवते । ननु तर्हि पूर्वोक्तबाध इति चेत्तत्राह । मा फलेषु इति । फलेषु तदुक्तेषु अधिकारो मनसि कामो मास्तु । कदाचनेति साधनदशायामपि । ननु कृतं कर्म कामाभावे स्वफलं करिष्यत्येवाज्ञानादपि भक्षणे विषवन् मृत्युमित्यत आह । मा कर्मफलहेतुरिति । त्वं कर्मफलहेतुः कर्मफलभोगभोग्यदेहयुक्तो मा भूः । न भविष्यसीत्यर्थः । मदाज्ञयेति भावः । किं च । ते अकर्मणि सकामकर्त्तरि संगः संबंधो मास्तु । एवं वरमेव ददामीति भावः ॥४७॥

यदि ऐसा है तो कर्म करने के उपदेश से क्या लाभ ? अतः कहा है 'कर्मण्येवाधिकारः ।'

तुझे अपने-पराये, मैं-मेरे ज्ञान से युक्त को कर्म में ही अधिकार है। भाव यह है कि जब तक अपना पराया ज्ञान है तब तक कर्म का त्याग नहीं है। भागवत में कहा है—कर्म तब तक किया जाय जब तक निर्वेद न हो जाय। पूर्वोक्त से यह विरुद्ध नहीं है—'मा फलेषु'। तदुक्त फलों में कामना न हो। साधना दशा में भी ऐसा न हो। यदि यह विचार करें कि किया हुआ कर्म कामना के अभाव में भी अपना फल तो करेगा ही जैसे अज्ञानपूर्वक विष पीने वाला मृत्यु को प्राप्त करता ही है। अतः कहा है 'मा कर्मफल'। तू कर्म फल हेतु कर्मफल भोग भोग्य देह युक्त मत बन। न बनेगा ही। मेरी आज्ञा से। और सकाम कर्ता के संबंध भी मत स्थापित कर। अतः तुझे वरदान ही देता हूं ॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

नन्वेवमेव चेत्तर्हि किं कर्मकरणेनेत्याशंक्याह योगस्थ इति । योगस्थः । भगवदेकपरचित्तो भूत्वा संगं त्यक्त्वा पूर्वोक्तानां कर्माणि कुरु । मदाज्ञारूपाणि कुर्वित्यर्थः ।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा सिद्धिस्तत्फलाप्तिरसिद्धिर्फल विपरीतफलं तत्र समो भूत्वा । ननु समत्वे सति । किं स्यादत आह । समत्वं योग उच्यत इति । तत्र समत्वमेव योगः । भगवदाज्ञया कर्त्तव्यत्वेन तत्फलाफले समता स्यात् सा च भगवत्परत्व ज्ञापिकेति योग रूपत्वम् । यद्वा योगस्थः भगवत्संयोगे स्थितः कर्माणि तत्रोपयुक्तानि कुरु संगं त्यक्त्वा सर्वत्यागं कृत्वेतिभावः ।

धनंजयेति संबोधनेन स्वविभूतिरूपत्वात्स्वसंयोगयोग्यता बोधिता किं च । सिद्ध्यसिद्ध्योः । सिद्धिः । सर्वदा योगः । असिद्धिर्विप्रयोगस्तत्र समो भूत्वा संयोगानन्तरभाविप्रयोगानंतरभावि परमसुखज्ञानेच्छाजनितानंदभर-भगवद्दत्तविप्रयोगे वैमनस्यमविचार्य तथा कुरु । तत्र समत्वे योग उच्यते । तद्रसज्ञैरिति शेषः । मया वा भगवद्दत्तविप्रयोगस्यापि परमानन्द रूपत्वात्तद्दत्तत्वेन योगरूपतेति भावः । संयोगानन्तरजत्वात्तन्मध्यपातित्वादपि तथा तत्साधकत्वेनापि तथा ॥४८॥

यदि ऐसा है तो कर्म करने से ही क्या प्रयोजन ?

समाधान है योगस्थ । भगवत एक परिचित्त होकर संग त्यागकर पूर्वोक्त कर्म करो । मेरी आज्ञा रूप कर्म ।

धनंजय पद से स्वसंयोग योग्यता व्यक्त की है । सिद्धि का अर्थ सर्वदा योग है । असिद्धि का विप्रयोग । इन दोनों में सम होकर संयोग के अनन्तर तथा विप्रयोग के अनन्तर होनेवाले परमसुख ज्ञान इच्छा जनित आनन्द को प्राप्त कर, भगवान् के दिये विप्रयोग में वैमनस्य का बिना विचार किये यत्न कर ।

समत्व में योग की स्थिति रसज्ञों ने सिद्ध की है । मेरे द्वारा दिया विप्रयोग भी परम आनन्दरूप है, अतः वह योग रूप है । संयोग के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण, मध्य में आने से और साधकत्व से भी वह निर्णीत है ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

नन्वेवं चेत्तदा कथं न तत्र सर्वप्रवृत्तिरित्याशंक्याह दूरेणेति ।

धनंजय मद्विभूतिरूप तथा कर्मायोग्यबुद्धियोगात् दूरेण कृतं कर्म फलाद्यर्थंकृतं ननु मदाज्ञाकरत्वेन तदवरमपकृष्टमित्यर्थः ।

हीति युक्तोयमर्थः ।

भगवदाज्ञा व्यतिरिक्तत्वेन फलेच्छया कृतकर्मणो नीचत्वमेव । तस्मात्तदपकृष्टानां प्राकृतानामेव योग्यं नोत्कृष्टानां मदंशानामिति धनंजय संबोधनेन ज्ञापितं तेनात्राधिकाराभावान्न सर्वेषां प्रवृत्तिरितिभावः । यस्मात्ते नीचाः सात्त्विकाधिकाररहितानां चाप्रवृत्तिस्त्वं च मदंशत्वात् बुद्धियोगयोग्य इति बुद्धियोगाय यतस्वेत्याह । बुद्धाविति । बुद्धौ बुद्धियोगनिमित्तमीश्वरं शरणमन्विच्छ अनुतिष्ठ । ननु सकामकर्तारोपीश्वरशरणमिच्छन्तीत्यत्र को विशेष इत्याशंक्याह कृपणा इति । फल हेतवः । सकामाः । कृपणा लुब्धादीना इत्यर्थः । नहि लुब्धैरहं प्राप्तः । अतएव श्रुतौ ब्रह्मभूतस्यैव ब्रह्मप्राप्तिर्निरूपिता ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति ॥४९॥

यदि ऐसा है तो उसमें सबकी प्रवृत्ति क्यों नहीं, इस आशंका में कहा है—'दूरेण' ।

हे धनंजय ! मेरी विभूति रूप तथा कर्म अयोग्य बुद्धि के योग से, दूर से किया कर्म फलादि अर्थ के लिये है । मेरी आज्ञाकरता से अपकृष्ट नहीं ।

भगवान् की आज्ञा से अतिरिक्त, फलेच्छा से किया कर्म, नीच है । अतः उससे अपकृष्ट प्राकृतों के ही योग्य है । उत्कृष्ट मेरे अंशों का अपकृष्ट नहीं । इसमें सबका अधिकार नहीं है, क्योंकि वे सात्त्विकाधिकार रहित हैं । नीच हैं । मेरे अंश होने के नाते बुद्धि योग्य हैं अतः बुद्धियोग का पालन कर । बुद्धियोग के निमित्त ईश्वर की शरण जा । यदि यह कहें कि सकामकर्ता भी ईश्वर की शरण चाहते हैं, तो इसमें विशेषता क्या है ?

कृपणा का अर्थ है दीन-लुब्ध । मैं लुब्धों को प्राप्त नहीं होता हूं । अतः श्रुति में ब्रह्मभूति की ही ब्रह्मप्राप्ति निश्चित की है । ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

नन्वेवं बुद्धौ किस्यादित्याशंक्याह बुद्धियुक्त इति । बुद्धयायुक्त इहैव उभे सुकृतदुष्कृते जहाति । अयमर्थः । मयि बुद्धया युक्त इह अस्मिन्नेव जन्मनि सुकृतफलं स्वर्गादि दुष्कृतफलं नरकं तत्साधने सुकृतदुष्कृते त्यजति । सुकृतमुत्तमफलार्थं करोमि । दुष्कृतं भ्रमाज्जातं तत्फलभोगो मम भविष्यतीति न विचारयति । किंतु । यथा ईश्वरः प्रेरयति तथा करोमीति करोति तेन भक्तसाधनत्वं भवतीत्यर्थः । यस्माद् बुद्धयाहं प्रसन्नः सन् भक्तिं ददामि तस्मात्त्वं योगाय म इति शेषः । युज्यस्व यत्नं कुरु । ननु योगोपि । कृतिसाध्यत्वात्कर्म एवेति । पूर्वोक्तमध्यपातित्वात् किं योगेनेत्यत आह । योग इति । कर्मसु कौशलम् । चातुर्यं योग इत्यर्थः ।

मन्निष्ठात्वान्मद्दर्शनार्थं मनः स्थिरीकरण साधकत्वाच्चातुर्यम् । साक्षाद्भक्त्यधिकार फलानि वा । मदाज्ञया कर्मकरणं योगः । एतदेव कर्मसु चातुर्यं यत्कृत्वापि भक्ति साधने प्रवेशनीयं तादृशो योग उत्तम इतीदानीं तदधिकाराभावात्तथोपदिशति । अन्यथा कर्मस्विति पदं व्यर्थं स्यात् ॥५०॥

इस प्रकार बुद्धि से क्या होगा । 'बुद्धियुक्तो' बुद्धि से युक्त होकर यहीं सुकृतदुष्कृतों का परित्याग कर देता है । भाव यह है कि यहीं—इस जन्म में ही सुकृत से होने वाले स्वर्गादि फल, दुष्कृत फल नरकादि और इन दोनों के साधनों का परित्याग कर देता है । सुकृत को उत्तम फल की कामना से करता हूं । दुष्कृत जो भ्रम से होगया उसका फल भोग मुझे होगा इसका वह विचार नहीं करता । जैसे ईश्वर प्रेरणा देता है, वैसे ही करता हूं, यह विचारकर वह कर्म करता है । इससे ही भक्त साधनता होती है । जिस बुद्धि से मैं प्रसन्न होकर भक्ति देता हूं उस बुद्धि को पाने का यत्न कर ।

यदि यह कहें कि योग भी कृति साध्य होने से कर्म है अतः योग से ही क्या ? तो कहा गया है कि कर्म में चातुर्य का नाम योग है ।

मुझ में निष्ठाकर, मेरे दर्शनार्थ मन को स्थिर करने का साधन होने के कारण योग को चातुर्य कहा है। अथवा मेरी आज्ञा से कर्म करने का नाम योग है। जिसे करके भक्ति साधन में प्रवेश मिले वह कर्म योग है और वही उत्तम है। इस समय उसके अधिकार के अभाव में उपदेश दिया गया है अन्यथा 'कर्मसु' पद व्यर्थ हो जायगा ॥५०॥

कर्मजं बुद्धि युक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

ननु कर्मणां स्वतंत्रफलदत्वं, भक्तेः कथं साधनतेत्याशंक्याह कर्मजमिति।

मनीषिणः शास्त्रार्थज्ञातारः। बुद्धियुक्ता बुद्धिर्युक्ता येषां तादृशत्वं च भक्तिप्रपन्नत्वेन ते हि निश्चयेन कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः सन्तोऽनामयं पदं भक्तिरूपं गच्छन्तीत्यर्थः। अन्यत्र रोगादिकं भवति। न तु भक्तौ भगवच्चरणरूपायाम्। अत एव श्रीभागवते मृत्युभयाभावत्वं भगवच्चरणे निरूपितम्। मर्त्यं इत्यारभ्य मृत्युरस्मादपैतीत्यन्तेन श्लोकेन देवकीस्तुतौ ॥५१॥

(मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायल्लोकान्
सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाऽद्य
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति।
—भागवत १०।३।२७)

यदि यह कहें कि कर्म स्वतन्त्र फलदायी है, भक्ति की साधना कैसे ? अतः कहा है 'कर्मजम्'।

मनीषी=शास्त्रार्थज्ञाता बुद्धियुक्त व्यक्ति कर्म से उत्पन्न होने वाले फल का परित्याग कर जन्मबन्ध से निर्मुक्त होकर भक्तिरूप पद को प्राप्त करते हैं। अन्यत्र रोगादि हो जाते हैं। भगवच्चरणरूपा भक्ति में रोगादि नहीं होते। अतएव श्रीमद्भागवत

में देवकी स्तुति में भगवान् के चरणों में मृत्यु के भय का अभाव सिद्ध किया है ॥५१॥

(जीव मृत्यु ग्रस्त हो रहा है। इस मृत्यु रूप कराल व्याल से भयभीत होकर सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों में भटकता रहा है, परन्तु इसे कभी भी ऐसा स्थान नहीं मिल सका, जहाँ यह निर्भय होकर रहे। आज बड़े भाग्य से आपके चरणारविन्दों की इसे शरण मिल गई इसलिये स्वयं मृत्यु भी इससे भयभीत होकर भाग गई है।
— भागवत १०।३।२७)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

ननु तत्प्राप्तिः कदा स्यादित्यत आह यदा त इति। ते बुद्धिर्यदा मोहकलिलं मोहगहनं लौकिकेषु देहादिषु विशेषणाऽतितरिष्यति तदा निर्वेदं मोक्षं गमिष्यसि। श्रोतव्यस्य अग्रे प्रोच्यमानस्य शास्त्रतो वा श्रुतस्य च निर्वेदं तदैव गन्तासि। यद्वा। च पुनः। श्रुतस्य पूर्वोक्तसांख्यादेः यदा ते बुद्धिर्मोहकलिलं विशेषेण अतितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य भक्तिमार्गस्य निर्वेदं गन्तासि। अत्रायं भावः। यावत्पर्यन्तं कर्मादिमार्गेषु मोहस्तावद्भक्तिमार्गफलं न भवति। तस्यानन्यसाध्यत्वात्। अत एवाग्रे तथैवोपदेष्टव्यः। अधुनाऽधिकाराभावान्नोपदिश्यते अधिकारसंपत्त्यर्थं च सूचितः ॥५२॥

यदि यह प्रश्न हो कि तुम्हारी प्राप्ति कैसे हो तो कहते हैं 'यदा ते'।

तेरी बुद्धि जब मोह गहन लौकिक देहादि में विशेषतः तैरेगी तब तू निर्वेद=मोक्ष को प्राप्त करेगा। आगे जो तुमने योग्य कहूँगा तभी निर्वेद होगा। अथवा जब पूर्वोक्त सांख्यादि से तेरी बुद्धि दुस्तर मोह को पार करलेगी तब श्रोतव्य=भक्तिमार्ग को तू प्राप्त करेगा। जब तक कर्मादि मार्गों में मोह है तब तक भक्तिमार्ग का फल न होगा, क्योंकि वह श्रम साध्य है। अतः उसका उपदेश आगे करूँगा। अधिकार के अभाव में उसका उपदेश तुझे अभी नहीं करूँगा। इससे अधिकार संपत्ति कर्म का भी सूचक है ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

एतदेव द्रढयति श्रुतिविप्रतिपन्नेति । श्रुतिविप्रतिपन्ना नानाविधधर्मश्रवणेच्छारहिता निश्चला श्रुतैरपि तैर्धर्मैश्चालनायोग्या यदा ते बुद्धिर्भविष्यति समाधौ मच्चिन्तनसमये अचला स्वतो दृढा स्थास्यति तदा योगमत्सान्निध्यरूपमवाप्स्यसि प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥५३॥

इसे ही आगे और दृढ़ किया है 'श्रुति विप्रतिपन्ना ते' कहकर ।

हे अर्जुन, जब तेरी बुद्धि नाना प्रकार के धर्म श्रवण की इच्छा से रहित होगी और श्रुत धर्मों से भी वह नहीं हिलाई जा सकेगी उस समय समाधि में मेरे चिन्तन के समय अचल बनेगी । तुम उस समय मेरे योग को प्राप्त करोगे ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

एवमुक्त्वा भगवांस्तूष्णीं स्थितस्तदार्जुनस्तादृग्बुद्धिज्ञानार्थं पृच्छति स्थितप्रज्ञस्येति ।

स्थितप्रज्ञस्य निश्चलबुद्धेः का भाषा । का परिभाषेत्यर्थः । कया परिभाषया सज्ञेयः ।

हे केशव, दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्षदायक मम मोक्षार्थं याथातथ्येन कथयेति भावः । समाधिस्थस्य च का भाषा तदपि कथय । स्थितधीः किं प्रभाषेत । श्रोतव्यं चेन्न किञ्चित्तदा किं ब्रूयादित्यर्थः । स्वोच्चरित वाक्यस्यापि श्रवणसंभवात् ।

किमासीत । कथमुपतिष्ठेत् । किं व्रजेत् । कथं गच्छेदित्यर्थः ॥५४॥

यह कहकर जब श्रीकृष्ण मौन होगये तब अर्जुन ने वैसी बुद्धि के ज्ञानार्थ प्रश्न किया ।

निश्चल बुद्धि की परिभाषा क्या है और उसे जानने का साधन क्या है ?

हे केशव, अर्थात् दुष्टगुण व्याप्तों को भी मोक्षदायी । मेरी मोक्ष के लिये यथायथ कहिये ।

समाधि की भाषा क्या है, स्थित बुद्धिवाला क्या कथन करता है, यदि कुछ सुनना न हो तो क्या कहे, समाधि में उच्चरित वाक्य का भी श्रवण संभव है । कैसे कैसे बैठना चाहिये और कैसे चलना चाहिये ॥५४॥

श्री भगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

भगवान् पृष्टस्य स्थितप्रज्ञस्य परिभाषामाह प्रजहातीति ।

हे पार्थ मद्वाक्यश्रवणयोग्य । पृथायाः स्वभक्तायाः पुत्रत्वात् स्ववाक्यश्रवणयोग्यत्वे तथा संबोधितवान् । यदा मनोगतान् स्वमनसि स्थितान्न तु भगवदिच्छया कृपया च प्राप्तव्यान् । भक्त्यादिरूपान् सर्वान् कामान् प्रजहाति प्रकर्षेण त्यजति । स्मरणाभावः प्रकर्षः । ननु कामत्यागे किं फलमित्याशंक्याह । आत्मन्येवेति ।

आत्मन्येव स्वात्मस्वरूपभूते भवति । आत्मना स्वस्यैव जीवात्मस्वरूपेण स्वयमेव तदैक्यस्फूर्त्यातुष्ट इत्यर्थः । अयं भावः । कामाः स्वसंतोषदा भवन्तीति तदर्थंयत्नेन तत्पूर्त्या तोषः स च लौकिक एवास्तत्त्यागे त्वात्मस्फूर्त्या लौकिकसंतोषो भवत्यात्मगामीति फलम् । यदैतादृशः स्यात्तदा स्थितप्रज्ञो निश्चलबुद्धिः स उच्यते कथ्यत इति ॥५५॥

कृष्ण ने कहा, हे पार्थ, अर्थात् मेरे वाक्य के श्रवण योग्य ! यह संबोधन इसलिये है कि अर्जुन पृथा के पुत्र हैं । पृथा कृष्ण की भक्त है । अतः यहां स्व वाक्य श्रवण योग्य होने के कारण यह संबोधन है ।

जब मन में स्थित भकत्यादि रूप कामों को त्यागता है, (काम मन में स्थित का तात्पर्य है कि वे भगवदिच्छा या कृपा से प्राप्त न हों।) तब वह आत्मरूप में ही स्थित होता है।

अपने ही जीवात्म स्वरूप से स्वयंभू ही परमात्मा से ऐक्य की स्फूर्ति से तुष्ट होता है। भाव यह कि काम संतोषप्रद होते है अतः ये लौकिक है, इनका त्याग करके ही आत्म स्फूर्ति होती है। जब साधक इस अवस्था में पहुँचता है तब वह निश्चल बुद्धि कहलाता है ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

किं च। दुःखेषु अनुद्विग्नं मनो यस्य सुखेषु च विगता स्पृहा इच्छा यस्य तादृशो मुनिः मननधर्मयुक्त स्थितधीः स्थितप्रज्ञ उच्यते। ननु दुःखानुद्वेगे सुखस्पृहाभावे च किं स्यादत आह वीतरागभयक्रोध इति।

विगता रागभयक्रोधा यस्मात्तादृशः स्यात्। एतदेव फलम्। इयं परिभाषा स्थितप्रज्ञस्येति भावः ॥५६॥

जिसका मन दुःखों में उद्विग्न न हो और सुखों में स्पृहा रहित हो, ऐसा मनन धर्मयुक्त व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

दुःख के अनुद्वेग में, सुख-स्पृहा के अभाव में वह राग, क्रोध, भय से रहित हो जाता है। यही इसका फल है। यही स्थितप्रज्ञ की परिभाषा है ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

कथं भाषेतेत्यस्योत्तरमाह। यः सर्वत्रेति।

यः सर्वत्र संसारे अनभिस्नेहः स्नेहरहितस्तत्तच्छुभमशुभं च प्राप्य नाभिनन्दति न द्वेष्टि शुभं लौकिकानुकूलं प्राप्य न प्रशंसति। अशुभं तत्प्रतिकूलमवाप्य न द्वेष्टि न विपरीतं वदति तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता तत्त्वनिष्ठेत्यर्थः। अयमर्थः।

यः सुहृदामनुकूलतयाऽभिनन्दनं करोति। तस्य सर्वत्र भगवदीयत्वे वैषम्यं स्यात्। प्रतिकूलकर्तृषु तद्वशवर्त्यां तं निन्दति भगवत्कृतिविस्मृता स्यात्। अतः सर्वत्र भगवन्मयत्वं ज्ञात्वा शुभाशुभविवेकरहितः शुभमेव भाषते स उत्तम इत्यर्थः ॥५७॥

स्थितप्रज्ञ की भाषण विधि बतलाते हैं।

जो सर्वत्र संसार में स्नेह रहित है, शुभ-अशुभों को प्राप्त करके भी उनकी प्रशंसा नहीं करता और न द्वेष करता है। न कुछ विपरीत कहता है। उसकी प्रज्ञा सर्वोत्तमा है।

भाव यह है कि जो अपने सुहृदों की अनुकूल होने के कारण प्रशंसा करता है उसको सर्वत्र भगवदीय मानने में विषमता आवेगी। और यदि प्रतिकूल करने वालों की निन्दा करता है तो भगवत् कृति विस्मृत होगी। अतः सब कुछ भगवान् का है इस जानकर शुभ और अशुभ से परे रहकर जो शुभ भाषण ही करे वह उत्तम है ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

कथं तिष्ठेदित्यत्रोत्तरमाह। यदा संहरत इति।

यदा अयं सर्वशः सर्वत्र इन्द्रियार्थेभ्यः इन्द्रियभोगेभ्यः। इन्द्रियाणि संहरते तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः।

अत्र दृष्टान्तमाह। कूर्मोऽङ्गानीव।

यथा कूर्मः करचरणाद्यङ्गानि स्वभावादपकर्षति। कूर्मं दृष्टान्तेन भोगदर्शनात् स्वतः एवेन्द्रियनिवृत्तिः स्वभावतः स्यात्। तथा संहरणं कर्तव्यं नित्यमिन्द्रियनियमं कुर्वंस्तिष्ठेदित्यर्थः ॥५८॥

'कथं तिष्ठेत्' का उत्तर देते हैं।

अब यह इन्द्रियार्थ—इन्द्रिय भोग्यों से इन्द्रियों को परावर्तित करता है उसकी प्रज्ञा ही प्रतिष्ठित है।

दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं।

जैसे कच्छप अपने कर-चरणादि अंगों को अपने स्वभाव से ही भीतर कर लेता है। कूर्म के दृष्टान्त से भोग्य दर्शन से स्वतः ही इन्द्रिय निवृत्ति हो जायगी। इन्द्रिय संयम करके स्थितप्रज्ञ को रहना चाहिये, यह आशय है ॥५८॥

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥५९॥

ननु इन्द्रियाणामन्नाद्यभावेनेन्द्रियविषयेषु प्रवृत्तिः कथं। कथं न तेषामपि स्थितप्रज्ञतेत्याशंक्याह विषया इति।

निराहारस्य देहिनो विषया विनिवर्तन्ते तत्सत्यमित्यर्थः। परंतु, रसवर्जं रसोनाम तदनुभवार्थाभिलाषस्तद्वर्जं तद् गृहीतमित्यर्थः। देहिन इति पदेन तेषां देहाध्यासोऽपि न निवर्त्तत इति ज्ञापितम्। अस्य स्थितप्रज्ञस्य रसोऽपि तदभिलाषोऽपि परमुत्कृष्टं भगवदीयरसं दृष्ट्वा निवर्त्तते। एतावद्धं लक्षणमिति भावः ॥५९॥

इन्द्रियों की अन्नादि के अभाव में इन्द्रियविषयों में प्रवृत्ति कैसे होगी और उनकी भी स्थितप्रज्ञता क्यों नहीं होती ?

उत्तर में कहा है—कि निराहार देही के विषय स्वतः निवृत्त हो जाते हैं, यह सत्य है, किन्तु वे रसवर्ज हैं (उसके अनुभव-अर्थ की अभिलाषा का नाम रसवर्ज है)।

देहिनः पद से देहाध्यास की निवृत्ति नहीं है।

इस स्थितप्रज्ञ की अभिलाषा तो 'परं रस' भगवदीय रस को देखकर निवृत्त हो जाती है। यही विलक्षणता है ॥५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

ननु इन्द्रियसंयमनं सर्वेषां कर्तुमुचितं स्थितप्रज्ञे को विशेष इति चेत्तत्राह यतत इति द्वाभ्यां।

हे कौन्तेय, विपश्चितः शास्त्रार्थविदः पुरुषस्य यततोऽपि यत्नं कुर्वाणस्यापि प्रमाथीनि प्रकर्षेण मथनशीलानि इन्द्रियाणि प्रसभं बलात्कारेण मनो हरन्ति ॥६०॥

यदि यह प्रश्न किया जाय कि इन्द्रियसंयम तो सबको ही करना चाहिये, स्थितप्रज्ञ की ही इसमें विशेषता क्यों ?

इसका समाधान दो श्लोकों से किया गया है।

हे कौन्तेय, शास्त्रों का मर्म जानने वाले, यत्नशील पुरुष के मन को भी इन्द्रियां हर लेती हैं ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अतस्तानि सर्वाणि संयम्य स्ववशगानि कृत्वा मत्परः अहमेव परो यस्य तादृशः युक्तः मयि युक्तः। आसीत। एवं यो मत्परस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। यस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता तस्येन्द्रियाणि वशे भवन्ति। नान्यस्येत्यर्थः। प्रमाथित्वादिति भावः। अत एव पूर्वार्द्धे विपश्चितामपि तदसामर्थ्यमुक्तम् ॥६१॥

अतः उन सब इन्द्रियों को अपने वश में करके मुझ में युक्त हो।

जो मुझ में परायण है उसकी प्रज्ञा ही प्रतिष्ठित है। जिसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है उसकी इन्द्रियां वश में रहती हैं, अन्य की नहीं। क्योंकि इन्द्रियां तो प्रमथनशील होती हैं। इसीलिये पूर्वार्द्ध में विद्वानों की भी असामर्थ्य कही है ॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

अथ कथं व्रजेतेत्यत्रोत्तरमाह । ध्यायत इति ।

विषयान् ध्यायतः पुंसस्तेषु संग आसक्तिः स्यात् । आसक्त्या किं स्यादित्यत आह संगादिति ।

संगात्कामः संजायते । कामाच्च क्रोधोऽभिजायते । अभितः सर्वतः तदयोग्येष्वपीत्यर्थः ॥६२॥

'कथं व्रजेत्' का उत्तर,

विषयों का ध्यान करते करते पुरुष की उनमें आसक्ति हो जाती है । उस आसक्ति से काम उत्पन्न होता है । काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है ॥६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोधाच्च संमोहः । सम्यक् प्रकारेण मोहो विवेकराहित्यं संमोहात्स्मृतेर्भगवत्स्मरणस्य विभ्रमः विशेषेण भ्रमः ।

भगवत्स्मरणानन्तरमनुस्मरणभ्रमे विशेषः । स्मृतिभ्रंशात्पूर्वोक्तबुद्धिनाशः स्यात् । बुद्धिनाशात् प्रणश्यति । पुनस्तत्साधनप्रवृत्तिराहित्यं नाशे प्रकर्षः । विषयध्यानसंगरहितो व्रजेति भावः ॥६३॥

क्रोध से सम्मोह होता है । (मोह में विवेक रहितता होती है) सम्मोह से भगवान् के स्मरण का विभ्रम होता है । (भगवान् के स्मरण के पश्चात् अनुस्मरण भ्रम में विशेष है ।)

स्मृति के भ्रंश होने से पूर्वोक्त बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से प्रणश्यति—नाश होता है । (तत्साधन प्रवृत्ति के अभाव से नाश में प्रकृष्टता है यह 'प्र' उपसर्ग का भाव है ।) भाव यह है कि विषयों के ध्यान का परित्याग कर । यह 'व्रज' का भाव है ॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

समाधिस्थस्योत्तरमाह । रागद्वेषवियुक्तैरिति । तु शब्दः पूर्वनिरूपणं व्यावर्त्तयति । विधेयात्मा विधेयो वशवर्त्ती आत्मा भगवान् यस्य तादृशो रागद्वेषादियुक्तैरात्मवश्यैः । स्ववशैः । भगवद्वश्यैर्वा इन्द्रियैः विषयान् भोगान् भगवदिच्छया प्राप्तान् उपयोगं कुर्वन् प्रसादं भगवत्प्रसादमधिगच्छति । अत्रायं भावः । भगवदिच्छया रसज्ञानार्थं रसस्वरूपरसदानेच्छया प्राप्तान् भोगान् आत्मवश्यैर्भगवद्रसाभिलाषिभिस्तद्रसदानार्थं तद्दत्तान् ज्ञात्वा यावत् कार्यसिद्धिम् । भुञ्जतो भगवान् प्रसादं करोति । अतएव श्रीभागवते बाध्यमानोपीत्यारभ्य विषयैर्नाभिभूयत इत्यन्तेन तथैवोक्तम् ॥६४॥

समाधिस्थ का उत्तर—

विधेयात्मा (विधेय=वशवर्त्ती भगवान् हैं जिनके) आत्मवश्य रागद्वेषादि से युक्त अथवा भगवान् के वश में स्थित इन्द्रियों से विषयों को जो भगवदिच्छा से प्राप्तों का उपयोग करता हुआ भगवत्प्रसाद को प्राप्त करता है । भगवान् की इच्छा से रसज्ञान के लिये रस स्वरूप रसदानेच्छा से प्राप्त भोगों को भगवद्रसाभिलाषियों को तद्रसदान के लिये उनके द्वारा ही दत्त मानकर (जब तक कार्य सिद्ध न हो) भगवान् प्रसाद करते हैं । श्रीमद्भागवत में भी 'बाध्यमानो' से 'विषयैर्नाभिभूयत' पर्यन्त कहा है ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

प्रसादे किं स्यादित्याशंक्याह प्रसाद इति । प्रसादे जाते सति अत्र तदनुगृहीतस्य सर्वदुःखानां हानिः नाशः स्यात् । सर्वपदेनालौकिकविप्रयोगादीनामपि नाशो ज्ञापितस्तेन संयुक्त एव नित्यं तिष्ठेदिति भावो व्यंजितः ।

सर्वदुःखहानौ सत्यां किं स्यादत आह प्रसन्न चेतस इति । दुःखहानौ प्रसन्नं चेतो यस्य तादृशो भवति । ततस्तस्य अनु शीघ्रमेव बुद्धिः पर्यवतिष्ठते । मयीति शेषः ।।६५।।

प्रसाद से लाभ,

प्रसाद होने पर भगवान् के द्वारा अनुगृहीत व्यक्ति के समस्त दुःख दूर हो जाते हैं ।

सर्वं पद से अलौकिक विप्रयोगादिकों का भी नाश ज्ञापित होता है । इससे नित्य संयुक्त ही रहे ।

सर्व दुःख हानि से क्या होगा ?

दुःख हानि में प्रसन्न चित्त होता है । और उसके बाद बुद्धि शीघ्र ही मुझ में लग जाती है ।।६५।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६।।

ननु समाधिस्थस्यापि स्थितप्रज्ञतैवोक्ता तदा को विशेष इत्यत आह, नास्ति बुद्धिरिति ।

अयुक्तस्य मयि योगरहितस्य बुद्धिरेव नास्ति । अयमर्थः । बुद्ध्यनन्तरं चेन्मयि योगो न जातस्तदा सा स्थितप्रज्ञैव न । तस्मात्समाधिस्थ भगवत्संयोगाभावे स्थितिप्रज्ञाप्यकिंचित्करीत्यर्थः । ननु समाधिस्थयोगेनापि किं फलमित्याशंक्याह । न चेति । अयुक्तस्य भगवत्संबंधरहितस्य भावना भगवद्रसौपयिकदेहाभिलाषो न च भवति । ननु भावनामात्रेणापि किमत आह । न चेति । अभावयतः । भावनामकुर्वतः । शान्तिर्भगवद्रसोपयिकदेहावाप्तिर्न च भवति । तादृग्देहिनः साक्षादानन्दानुभवो न भवतीत्याह ।

अशांतस्येति । अशांतस्य तादृग्देहाप्त्या तापरहितस्य सुखं साक्षात्संबंधात्मकभजनानन्दानुभवः कुतः स्यादित्यर्थः ।।६६।।

समाधिस्थ की भी तो स्थितप्रज्ञता कही गई है । तब इसमें क्या वैशिष्टय ।

मुझ में योग रहित की बुद्धि ही श्रेष्ठ नहीं । बुद्धि के बाद भी यदि मुझ में योग नहीं हुआ तो स्थितप्रज्ञता ही कैसी ? अतः समाधि में ही यदि भगवत् संयोग का अभाव हो तो स्थितप्रज्ञता भी व्यर्थ है ।

समाधिस्थ योग से लाभ ?

भगवत्संबंध रहित की भावना भगवद्रस उपयोगी देहाभिलाषी नहीं होती ।

यदि यह कहें कि भावना मात्र से ही क्या ?

भावना शून्य को शान्ति नहीं । (शान्ति का भाव यह है कि भगवद्रस उपयोगी देह प्राप्ति नहीं, देही को साक्षात् आनन्द का अनुभव नहीं होता) । अशान्त को भजनानन्दानुभव रूप सुख भी प्राप्त नहीं होता ।।६६।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

ननु भावनायामास्थितचेतसोऽपीन्द्रियनिग्रहः किमर्थं स तु साधनदशापन्नस्यैव संभवति । भावनायुक्तस्य तु सिद्धत्वादेव न प्रयोजनं ज्ञानिन इवेत्याशंक्याह इन्द्रियाणामिति । चरतां लौकिकेषु स्वेच्छया विहरतामिन्द्रियाणां यस्येन्द्रियस्य संगे मनः अनु विधीयते तत्संगे गच्छति तत् तदेव इन्द्रियस्य पुरुषस्य प्रज्ञां भावानात्मिकां हरति तत्र दृष्टान्तमाह वायुर्नावमिति । अम्भसि जले नावं तारणसाधिकां वायुरिव । यथा: प्रबलो वायुरनवस्थितकर्णधारयुक्तां नावं मज्जयति तथेति भावः ।।६७।।

भावना में स्थित के लिये इन्द्रियनिग्रह क्यों कहा है, क्योंकि वह तो साधन दशा प्राप्त को ही होता है । भावना युक्त तो सिद्ध है । अतः ज्ञानी को इसका प्रयोजन ही क्या ?

इस आशंका का उत्तर है—'इन्द्रियाणाम्' ।

लौकिकों में जो स्वेच्छापूर्वक विहार करते हैं उनकी इन्द्रियाँ, जिसकी इन्द्रिय के साथ आसक्ति होती है, पुरुष की भावनात्मिका प्रज्ञा का अपहरण करती है।

दृष्टान्त—जिस प्रकार जल में वायु के द्वारा नौका को इतस्ततः ले जाया जाता है या अनवस्थित कर्णधारवाली नौका को वायु जैसे डुबो देती है ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

तस्मात्सर्वथेन्द्रियनिग्रहकर्तुरेव प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवतीत्याह तस्मादिति।

यस्मादिन्द्रियनिग्रहाभावे प्रज्ञा नश्यति तस्मात् यस्य इन्द्रियार्थेभ्यो विषयेभ्य इन्द्रियाणि निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः।

महाबाहो इति संबोधनेन तथा करणसामर्थ्यं ज्ञापितम् ॥६८॥

अतः जो सर्वथा इन्द्रियनिग्रह करता है उसकी ही प्रज्ञा प्रतिष्ठित कही जाती है। इन्द्रियों का निग्रह न किया गया तो प्रज्ञा नष्ट हो जाती है।

अतः जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से निगृहीत होती हैं उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

महाबाहो संबोधन उसको वैसा करने की सामर्थ्य का ज्ञापक है ॥६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

नन्वेतादृशेन्द्रियनिग्रहकृत् किं लक्षण इत्यपेक्षायामाह या निशेति।

सर्वभूतानां या निशा रात्रौ निद्रायामिव विषयसुखेषु सर्वेषां या निशा सुखवाप्तिः। नितरां शं सुखं यस्यामिति निशा। तस्यां संयमी इन्द्रियनिग्रहकर्ता जागर्ति न सुखमवाप्नोतीत्यर्थः।

यस्यां निशायां भूतानि जाग्रति न सुखं प्राप्नुवन्ति सा भगवत्सुखं पश्यतो मननशीलस्य निशा सुखाप्तिः। तत्सुखस्य कथनायोग्यत्वान्मुनेरिति विशेषणमुक्तम् ॥६९॥

ऐसे इन्द्रियनिग्रह कर्ता का लक्षण क्या है ?

समस्त प्राणियों को रात्रि निद्रा में विषय सुख मिलते हैं इसीलिये इसका नाम निशा है।

निरन्तर है सुख जिसमें उसका नाम है निशा। उसमें इन्द्रिय संयम कर्ता जागर्ति=सुख प्राप्त नहीं करता।

जिसमें भूत जागते हैं, सुख प्राप्त नहीं करते, वह निशा मननशील को सुखदायी है। वह सुख कथन योग्य नहीं होता। अतः मुनि=मननशील सम्बोधन दिया गया है ॥६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

ननु लौकिक विषयाणां दर्शनाद्यभावात्कथं प्राप्तिरित्यत आह आपूर्यमाणमिति।

नानानदीभिः आपूर्यमाणमपि अचलप्रतिष्ठं वर्द्धनादिविकाररहितं समुद्रं यद्वदापः प्रविशन्ति तद्वदनेकस्त्रीभिः कामरसे प्रवर्त्यमानं यं भगवत्कामाः सर्वे स्वमनोरथाः स्वार्थं प्रविशन्तीति यो जानाति स शान्तिं कामानां शांतिं परमं सुखमाप्नोति। अतएव श्रीभागवते मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुरित्युक्तम् न कामकामी यस्तु लौकिककामभोगशीलः स न प्राप्नोतीत्यर्थः। यद्वा। यं सर्वेकामाः पूर्वोक्त प्रकारेण प्रविशन्ति तं। योऽदृष्ट्वापि कामयेत तदर्थं वा स शान्तिं परमानंदमाप्नोति न तु स्वार्थं कामाभिलाषीति भावः ॥७०॥

लौकिक विषयों का दर्शन नहीं हो सकता अत: उनकी प्राप्ति कैसे ? इस आशंका का समाधान करने के लिये कहा है 'आपूर्यमाणम्' आदि ।

नाना नदियों के जल से परिपूर्ण होकर भी जो अपनी प्रतिष्ठा में अचल है। ऐसे समुद्र में जिस प्रकार और जल प्रवेश करते हैं फिर भी उसमें वर्द्धनादि विकार नहीं उत्पन्न होते उसी प्रकार अनेक स्त्रियों से कामरस में प्रवर्तित जिनमें भगवत् काम अर्थात् सम्पूर्ण मनोरथ अपने अर्थ में ही प्रविष्ठ होते हैं, ऐसा जो जानता है वह परम सुख प्राप्त करता है। अतएव भागवत में कहा है—मनोरथान्त तक श्रुतियां जाती हैं। जो लौकिक काम भोग श्रील है वह उसे प्राप्त नहीं करता। अथवा समस्त कामनाएँ पूर्वोक्त प्रकार से जिसमें प्रविष्ट होती हैं, जो विना देखे भी कामना करता है, वह परमानन्द प्राप्त करता है। अपने लिये उनकी कामना नहीं होती, यह इसका भाव है ॥७०॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

यतो लौकिककामाभिलाषी न शान्ति प्राप्नोत्यतस्तां त्यजेदित्याह विहायेति यो दुर्लभः पुमान् भगवद्भावनैकयोग्यः सर्वान् कामान् विहाय निःस्पृहः भगवदेकपरश्चरति सर्वत्र वैकल्येन परिभ्रमति निर्ममो देहादिषु निरहंकारो भवति स शान्तिमधिगच्छति, प्राप्नोति ॥७१॥

लौकिक काम चाहनेवाला शान्ति प्राप्त नहीं करता अत: उस अभिलाषा का त्याग कर देना चाहिये ।

जो भगवद्भावना के योग्य व्यक्ति सब को परित्याग कर भगवान् के ही परायण रहता है। विकलता पूर्वक जो भ्रमण करता है, देहादि में जिसका अहंकार नहीं होता, वह शान्ति प्राप्त करता है ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

उपसंहरति एषेति ।

एषा ब्राह्मी ब्रह्मनिष्ठस्य स्थितिः । एनां प्राप्य न विमुह्यति मोहं न प्राप्नोति ।

अन्तकाले क्षणमप्यस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं पुरुषोत्तममुक्तिं प्राप्नोति ।

गीतायाश्चोपनिषद्रूपत्वादत्र ब्रह्मपदं पुरुषोत्तमवाचकमेव आजन्मस्थितौ तु किं वक्तव्यमिति भावः ॥७२॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां गीतामृततरंगिण्यां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

उपसंहार में कहा है—

यह ब्रह्मनिष्ठ की स्थिति है। इसे प्राप्त करके वह मोह को प्राप्त नहीं होता। अन्त काल में क्षण भर भी इसमें स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण—पुरुषोत्तम मुक्ति को प्राप्त करता है।

गीता उपनिषद् रूप है अत: यहाँ ब्रह्मपद पुरुषोत्तम वाचक है। आजन्म स्थिति में तो कहना ही क्या है ॥७२॥

इति श्रीमद्भगवतगीता की 'गीतामृत तरंगिणी' की श्रीवरी हिन्दी टीका का द्वितीय अध्याय ॥२॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

योगसांख्यब्रह्मभावकर्माद्याः प्रश्नवाक्यतः ।
स संशयोऽब्रवीत्कृष्णं भक्तिप्राप्तीच्छुरर्जुनः ॥

एवं पूर्वाध्याये भगवता बुद्धियोगस्य कर्मण उत्तमत्वमुक्तमिति कर्मोपदेशः किमाशय इति संशयाविष्टोऽर्जुन उवाच ज्यायसी चेदिति ।

हे जनार्दन सर्वाविद्यानाशक ते कर्मणः सकाशाद् बुद्धिश्चेज्ज्यायसी श्रेष्ठमता संमता तदा मां घोरे अकरणप्रत्यवाये किंचिदपि कर्मलोपादि विकले कर्मणि किमिति नियोजयसि प्रवर्त्तयसि । केशवेति संबोधनेन दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्ष दातृत्वात्तथा कर्मकारयित्वापि चेन्मोक्षं दातुमिच्छसि तदा कर्त्तव्यमेवेति भावो व्यंजितः ॥१॥

योग सांख्य ब्रह्मभाव आदिक कर्म संबंधी विविध प्रश्नों का उत्तर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया । अब अर्जुन भक्ति प्राप्ति की इच्छा से प्रश्न करता है ।

द्वितीय अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने बुद्धियोग को कर्मयोग से श्रेष्ठ कहा था । कर्मोपदेश का आशय क्या है, इस संशय में अर्जुन ने पूछा—

हे जनार्दन=सर्व अविद्या नाशक, तुमने कर्म से बुद्धि को श्रेष्ठ कहा है तब मुझे उस काम में, जिसके न करने से प्रायश्चित्त करना पड़े, प्रवृत्त क्यों करा रहे हैं ?

केशव संबोधन का भाव यह है कि तुम दुष्ट गुण व्याप्त को भी मोक्ष दाता हो और कर्म कराने के पश्चात् यदि मोक्ष देने की इच्छा हो तो भी करने योग्य कर्त्तव्य की प्रेरणा देते हो ॥१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

किं च । स्पष्टतया बोधाभावान्मे बुद्धिर्मोहमवाप्नोतीति यथाऽहं त्वां प्राप्नोमि तत्तथा स्पष्टमाज्ञापयेत्याह व्यामिश्रेणेवेति ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन क्वचित्कर्म प्रशंससि क्वचिज्ज्ञानमिति रूपसंदेहोत्पादकेन वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसीव । भगवद्वाक्यं तु व्यामिश्रं न भवति परंतु जीवैर्न बुध्यत इति इवेत्यनेन ज्ञापितं । मोहयसीत्यत्रापि इवेति पदेन भगवत्सन्निधौ मोहोऽनुचित इति ज्ञापितं । तस्मात्कारणाद्यथा मम बुद्धिमोहोऽपगच्छति तथा एकं श्रेयो रूपं कल्याणरूपं भक्ति प्रतिपादकं वाक्यं निश्चित्य मयि दानेच्छां कृत्वा वद येनाऽहं त्वामाप्नुयां प्राप्नोमीत्यर्थः । पूर्वोक्तव्यामिश्रवाक्यमध्ये नैकस्यापि श्रेयोरूपत्वं मोहकत्वात् । सर्वथा भगवत्प्रापक श्रेयोरूपत्वं भक्तेरेव । अतएव श्रीभागवते तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्येत्यारभ्य श्रेयोभवेदिहेत्यन्तं सर्वेषां न श्रेयोरूपत्वमुक्तम् । अतः पूर्वोक्तमध्ये एकं निश्चित्य वदेति व्याख्यानं न साधु ॥२॥

स्पष्ट बोध मुझे नहीं हुआ अतः मेरी बुद्धि मोह में पड़ी है । मैं तुम्हें जिस प्रकार प्राप्त कर सकूँ उसकी स्पष्ट आज्ञा दो ।

आप मिश्रित वाक्यों का प्रयोग कर रहे हैं, अर्थात् कभी तो आपने कर्म की प्रशंसा की है और कभी ज्ञान की । इससे मेरी बुद्धि संदेहयुक्त हो गई है ।

यहाँ 'इव' शब्द का तात्पर्य यह है कि भगवद्वाक्य तो कभी मिश्रित नहीं होता किन्तु जीव इसे समझ नहीं पाते । 'मोहयसीव' में भी 'इव' पद यह बोध करता है कि भगवत्सन्निधि में मोह अनुचित है । अतः मेरा बुद्धिमोह दूर हो ऐसा कल्याणरूप भक्ति प्रतिपादक एक वाक्य निश्चय कर मुझे दान का पात्र समझकर कहिये जिससे मैं तुम्हें प्राप्त करूँ ।

पूर्वोक्त वाक्यों में श्रेयो रूप एक भी वाक्य नहीं। क्योंकि वे मोहक हैं। भगवान् को प्राप्त करनेवाली श्रेयरूपता भक्ति में ही है इसलिये श्रीमद्भागवत में 'तस्मात्मद्भक्ति' से 'श्रेयोभवेत्' के वाक्य तक सब की श्रेयोरूपता नहीं। अतः पूर्वोक्त के मध्य में एक का निश्चय कर कहो, मिश्रित व्याख्यान श्रेष्ठ नहीं ॥२॥

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

एवमर्जुनस्य मोहापगमार्थं प्रश्नोत्तरमाह कृष्णः। लोकेस्मिन्निति।

हे अनघ—निष्पाप! मद्वाक्यश्रवणयोग्य मया अस्मिल्लोके प्रवृत्तिनिष्ठे द्विविधा निष्ठा पुरा पूर्वं तवाग्रे भक्त्यधिकारसिद्ध्यर्थं प्रोक्ता न तु त्वदर्थमिति भावः।

द्विविधत्वमेव स्पष्टयति। ज्ञानयोगेनेति।

सांख्यानां ज्ञानयोगेन सांख्यानां सर्वत्र भगवदात्मज्ञानवतां ज्ञानयोगेन ब्रह्मनिष्ठोक्ता। योगिनां योगेन भगवदुपासकानां कर्मयोगेन ब्रह्मनिष्ठोक्ता। तयो स्वरूपज्ञानार्थं निष्ठाद्वयमुक्तं न तु त्वदर्थमित्यर्थः ॥३॥

अर्जुन का मोह दूर करने के लिये श्रीकृष्ण ने प्रश्नों का उत्तर दिया।

हे अनघ—निष्पाप! अथवा मेरे वाक्य श्रवण योग्य! मैंने इस लोक में प्रवृत्त दो निष्ठाओं का उल्लेख भक्ति के अधिकार सिद्धि के हेतु किया था, वे तेरे लिये नहीं हैं। जो सर्वत्र भगवान् को देखते हैं, उन्हें ज्ञानयोग से ब्रह्मनिष्ठा बतलाई। योगियों के योग से भगवान् के उपासकों को ब्रह्मनिष्ठा कर्मयोग से बतलाई।

निष्ठा द्वय—ज्ञान निष्ठा और योग निष्ठा तुम्हारे लिये नहीं है। उनका स्वरूप बतलाने के लिये ही उनको कहा गया है ॥३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

नन्वेवं चेत्तदा मां प्रतिकर्मकरणं किमाशयेनाज्ञप्तमित्यत आह। न कर्मणामिति। कर्मणामनारम्भादकरणान्नैष्कर्म्यं कर्मादिरहितभावं भक्तिरूपं नाश्नुते न प्राप्नोति इत्यर्थः। अत्रायं भावः।

कर्मस्वरूपज्ञानाभावे त्यागे न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येत्। तस्मात्तत्स्वरूपज्ञानार्थं तत्करणम्। अत एवारंभ एवोक्तो न त्वाद्यं तत्करणमुक्तम्। स्वरूपाज्ञाने केवलं न भवतीत्याह। न चेति।

संन्यसनादेव स्वरूपाज्ञानात् केवल त्यागेन सिद्धिं त्यागफलं न च समधिगच्छति। न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥४॥

यदि अर्जुन विचार करे कि फिर मुझे कर्म करने का आदेश किस आशय से दिया है, अतः कहा है—'न कर्मणाम्'।

कर्म न करने से नैष्कर्म्य—कर्मादि रहित भाव 'भक्तिरूप' प्राप्त नहीं होता। भाव यह है कि जब तक कर्म के स्वरूप का ज्ञान न हो तब तक उसके त्याग में ही पुरुषार्थ क्या है? अतः ध्येय के ज्ञानार्थ ही उसका करण सिद्ध किया है।

इसलिये आरंभ ही कहा है न कि आरंभ में उसके करण की चर्चा की है। स्वरूप के अज्ञान में केवल (कर्म संन्यास) नहीं होता। इसे ही आगे स्पष्ट किया है।

बिना स्वरूप जाने केवल त्याग (संन्यास) से त्याग का फल भली भाँति प्राप्त नहीं होता ॥४॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

अज्ञात्वा कर्मकरणेतत्त्यागोऽपि न भवति ज्ञात्वाऽज्ञात्वा वा कर्म तु करोत्येवेत्याह। न हीति।

कश्चित् जातु कदाचित् क्षणमपि अकर्मकृत् कर्माण्यकुर्वन्न तिष्ठति ।
कुत इत्यत आह ।

सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः सात्त्विकादिभिः कर्म कार्यते कर्मणि प्रवर्तते । तत्र
कारणमाह ।

हृयवश इति हीति निश्चयेन अवशः न मद्वशो भक्त इत्यर्थः । अतस्तदा-
रम्भात् स्वरूपज्ञानानन्तरं प्राकृतकार्यतां तेषु ज्ञात्वा मद्वशो भूत्वा त्यजेदिति
भावः ॥५॥

बिना जाने कर्म करने से उसका त्याग भी नहीं होता। जाने या बिना जाने
कर्म तो प्राणी करता ही है। अतः कहा है—

कोई भी क्षण भर भी बिना कर्म किये नहीं रहता। प्रकृति से उत्पन्न
सात्त्विक आदि गुणों से कर्म में तो प्रवृत्त होता ही है। कर्म में प्रवृत्त होने का कारण
है, अवश=मेरा भक्त नहीं है। अतः काम प्रारंभ कर स्वरूप ज्ञान करना चाहिये।
और तब उनकी प्राकृत कार्यता जानकर मेरे वश हो उन्हें त्याग देना चाहिये ॥५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

अज्ञानात्कर्मत्यागी दाम्भिको न त्यागफलमाप्नोतीत्याह । कर्मेन्द्रिया-
णीति ।

कर्मेन्द्रियाणि हस्तपादादीनि संयम्य निरुध्य । मनसा इन्द्रियार्थान्
विषयान् स्मरन् य आस्ते तिष्ठति भगवद् ध्यानदशापन्न इव लोकज्ञापनार्थं
स विमूढात्मा मिथ्याचारः मिथ्याचरतीति दाम्भिक उच्यत इत्यर्थः ॥६॥

अज्ञान से कर्म का त्याग करनेवाला दाम्भिक त्याग का फल प्राप्त नहीं करता।
अतः 'कर्मेन्द्रियाणि' कहा है।

जो हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियों का नियमन करके रहता है और मन से

इन्द्रियार्थों—उनके विषयों का स्मरण करता हुआ लोकों को 'भगवान् के ध्यान में स्थित हैं' ऐसा प्रतीत कराता हुआ विमूढात्मा दाम्भिक कहलाता है ॥६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

स्वरूपज्ञानेन त्यागी उत्तमस्तत्त्यागस्वरूपं तस्योत्तमत्वमाह यस्त्विति ।

तु शब्दो लौकिकार्थनिग्रहपक्षं व्यावर्तयति । य इन्द्रियाणि मनसा
नियम्य मनसा मदर्थं नियमे स्थापयित्वा कर्मेन्द्रियैर्वाक्चक्षुर्हस्तादिभिः कर्मणां
कृतीनां योगं मया सह योगमसक्तः स्वसुखाभिलाषाभावेन मत्सुखार्थमेवारभते
स विशिष्यते विशिष्टो भवति उत्तमो भवतीत्यर्थः ॥७॥

स्वरूप ज्ञान से ही वह उत्तम त्यागी है। उसकी उत्तमता बतलाते हैं।

तु शब्द लौकिकार्थ निग्रह पक्ष की व्यावृत्ति कराता है।

जो इन्द्रियों को मन से वश में करके कर्मेन्द्रियों से भी स्वसुख की अभिलाषा
का परित्याग करके मेरे सुख के लिये जो आरम्भ करता है वह विशिष्ट होता है ॥७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

यस्माल्लौकिक फलोत्पत्त्यर्थं कर्तुं न फलमलौकिकं मदर्थं कर्मकर्तुरुत्तमं
फलमतस्त्वं मदर्थं नियतं कर्म कुर्वित्याह नियतमिति ।

त्वं नियतं नित्यं मत्सेवादिरूपं कर्म कुरु । पूर्वोक्तन्यायेन मदर्थं वा ।
यतोऽकर्मणः कर्मत्यागकर्तुर्ज्ञानिवतः सकाशात् कर्म मत्सेवादिरूपं ज्यायः
अधिकतरं । किं च । ते मदर्थं मत्क्रीडार्थं गृहीतशरीरकार्यम् । अकर्मणः ।
सेवादि रहित ज्ञानमार्गे प्रपन्नस्य प्रकर्षेण न सिध्येत् न सेत्स्यतीत्यर्थः । ज्ञान-
मार्गेऽपि ज्ञानप्राप्तिपर्यन्तं शरीराऽपेक्षास्ति तदनन्तरं तु नापेक्षा भक्तिमार्गवत्-

क्षण्वतां फलमिदमितिन्यायेन । तस्मात्सर्वात्मना सेन्द्रियशरीरकार्यसिद्धौ प्रकर्ष इति भावः ।

अत एव वियोग क्लेशादिरससिद्ध्यर्थं शरीरपदमुक्तम् ॥८॥

लौकिक फलों की उत्पत्ति के लिये कर्त्ता को फल प्राप्ति नहीं। मेरे लिये जो कर्म करता है उसको उत्तम फल प्राप्त होता है अतः मदर्थ कर्म कर।

तू मेरी सेवा आदि रूप कर्म को नियत=नित्य कर या मेरे लिये कर। क्योंकि दो प्रकार के प्राणी होते हैं—एक तो कर्म त्याग करनेवाले और दूसरे मेरी सेवा करने वाले। इनमें सेवा करने वाला ही श्रेष्ठ है। तूने मेरी सेवा के लिये शरीर ग्रहण किया है ∴ सेवादि रहित ज्ञानमार्ग में प्रकृष्टता नहीं मिलेगी। ज्ञानमार्ग में भी ज्ञानप्राप्ति पर्यन्त शरीर की अपेक्षा है, तदनन्तर अपेक्षा नहीं। जैसा कि भक्तिमार्ग में 'अक्षण्वतां फलमिदम्'[1] इस न्याय से कहा गया है। अतः सर्वात्मना इन्द्रिय शरीर कार्य सिद्धि में प्रकृष्ट है। अतएव वियोग क्लेशादि रससिद्धि के लिये शरीर पद कहा है ॥८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥९॥

नन्वेवं चेत्तदा कर्माकरणं पूर्वं कथमुक्तमित्याशंक्याह । यज्ञार्थादिति ।

अन्यत्र मत्सेवातोऽन्यत्र कर्ममार्गे कर्मबन्धनः कर्मनिबन्धनोऽयं लोकः । कर्मणो यज्ञार्थादित्युक्त्वा कर्म कार्यमित्याहुस्ततस्तत्कर्म न मत्फलकमिति मया बन्धकत्वात्तत्त्याग उक्तः । यतस्तत्कर्म बन्धकमतस्तत्त्यक्त्वा कर्म कुर्वित्याह । तदर्थमिति ।

तदर्थं यज्ञार्थं मुक्तसंगः सन् कर्म मत्सेवाख्यं समाचर सम्यक्प्रकारेण कुरु ॥९॥

यदि ऐसा है तो कर्म न करने का उपदेश क्यों दिया? इस आशंका का समाधान करते हैं।

मेरी सेवा से अन्यत्र कर्म मार्ग में बन्धन है। यह लोक कर्म-बन्धन में फँसा है। कर्म यज्ञार्थ है। इससे यह सिद्ध है कि कर्म कार्य है किन्तु वह कर्म मुझ से असम्बद्ध है, अतः वह त्याज्य है। क्योंकि वह कर्म तो बन्धक है। उस बन्धक का परित्याग ही उचित है।

तदर्थ=यज्ञार्थ मुक्तसंग होकर मेरी सेवा रूप कार्य को कर ॥९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

ननु तादृशं कर्म त्याज्यमेव चेत्त्वन्मतं तदा केनोक्तं कथमाचरति लोक इत्याशंक्यैतत्कर्मप्रवृत्तिपरं मदाज्ञया प्रवृत्तिप्रवर्त्तकब्रह्मणोक्तं लोकः समाचरतीत्याह । सहयज्ञा इति ।

प्रजापतिः ब्रह्मा सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा प्रवृत्तिधर्मसहिताः प्रजाः सृष्ट्वा पुरा मदवतारात् पूर्वमुवाच । मत्प्रादुर्भावानन्तरं तु मया भक्तिरेवोक्तेति ज्ञापनाय पुरेत्युक्तं । तद्वाक्यमेवाह । अनेनेति ।

अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वं प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्स्यथ । किं च । एष यज्ञः । वो युष्माकम् इष्टकामधुक् अभीष्टफलदोऽस्तु भगवदाज्ञया ब्रह्मवाक्यं न मृषा भवतीति वरमेव दत्तवान् ॥१०॥

यदि कर्म त्याज्य ही है तो किसके द्वारा प्रवृत्त हुआ जीव क्यों कर्म करेगा ?

कृष्ण ने कहा कि मेरी आज्ञा से ब्रह्मा के द्वारा निदिष्ट लोक इसका आचरण करता है। ब्रह्मा ने प्रवृत्ति धर्म सहित प्रजा उत्पन्न कर मेरे अवतार से पूर्व कर्म—यज्ञार्थ कर्म—का उपदेश दिया था।

पुरा शब्द इस बात का द्योतन कराता है कि मैंने तो अवतार लेकर भक्ति का ही उपदेश दिया है। इस यज्ञ से वृद्धि प्राप्त करोगे। क्योंकि यह यज्ञ तुम्हें इष्ट

---

[1] 'अक्षण्वतां फलमिदम्' यह श्लोक भागवत दशम स्कन्ध गोपी गीत का है। इसमें गोपियों ने आँखों वाले व्यक्ति का परम धर्म नन्द सुत के दर्शन करना बताया है।

फलदायी होगा । भगवान् की आज्ञा से निःसृत ब्रह्मवाक्य मिथ्या नहीं होगा, वह वरदान दिया ॥१०॥

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

ननु कर्मणा जगतः कथमभीष्टमित्याशंक्याह देवानिति ।

अनेन यज्ञेन देवान् तत्तत्कर्माधिष्ठातॄन् भावयत संवर्द्धयत । ते देवा वो युष्मान् भावयन्तु संवर्द्धयन्तु । अत्रायमर्थः ।

हविर्भागैस्तेषु यूयं देवत्वं वर्द्धयन्तु ते च भवत्सु कर्मसाधनानि वर्द्धयन्तु । एवं परस्परं भावयन्तः संवर्द्धयन्तो यूयं देवाश्च श्रेयः स्वाभीष्टं अवाप्स्यथ ॥११॥

कर्म से जगत् की अभीष्ट सिद्धि कैसे ? इसका उत्तर देते हैं—

ब्रह्मा ने कहा, इस यज्ञ से तत्तत् कर्म के अधिष्ठाताओं को बढ़ाओ और वे देव तुम्हारा संवर्द्धन करेंगे ।

भाव यह है कि हविष्यान्न से तुम लोग देवत्व को बढ़ाओ और तुम में वे कर्म साधन बढ़ायें । इस प्रकार भावना पूर्वक तुम और देवगण दोनों ही अभीष्ट प्राप्त करेंगे ॥११॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

ननु श्रेयसोऽनेकरूपत्वात्किंलक्षणाःश्रेयः प्राप्तिर्भविष्यतीत्याह इष्टानिति ।

वो युष्मभ्यं यज्ञभाविता देवा इष्टान् भोगान् वृष्ट्यादिकरणेनान्नादीन् दास्यन्ते । यद्वा । वो युष्मभ्यं इष्टान् यदेवेष्टं भवताम् । भगवत्सेवौपयिकधनाद्यर्थकान्नादिसंपत्त्यै वृष्ट्यादि करिष्यन्तीत्यर्थः । ननु तैरेवान्नं देयं चेत्तदा तेभ्यः किमर्थं दानकरणेनेत्यत आह तैरिति ।

तैर्दत्तान् अन्नादीन् । एभ्यस्तद्दातृभ्योऽप्रदाय अदत्त्वा यो भुंक्ते भोगं करोति स स्तेन एव चोर इत्यर्थः ॥१२॥

श्रेय के अनेक रूप है, तब कैसा श्रेय मिलेगा ?

यज्ञ से संतुष्ट देवगण वृष्टि आदि के द्वारा अन्नादि देंगे अथवा जो तुम्हें इष्ट होगा, वह देंगे । भगवत् सेवा में उपयोगी धनदायक अन्नादि उत्पत्ति के लिये वृष्टि आदि करेंगे । यदि देवता ही अन्न देंगे तो उनके लिए यज्ञ करना ही व्यर्थ है । उनके द्वारा प्रदत्त अन्न को दाताओं को न देकर जो भोग करता है, वह चोर है ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

ननु पूर्वं यजनव्यतिरेकेण यथा दत्तं तथाऽपि दास्यन्त एवातः किं यजनेनेत्यत आह यज्ञशिष्टाशिन इति ।

सन्तः पूर्वोक्तस्वरूपाभिज्ञाः । यज्ञशिष्टाशिनो भुक्त्वा सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते । अत्रायं भावः ।

वृष्ट्यादिना पूर्वमन्नादिरसोत्पत्तिस्तु भगवद्भोगार्थं तेन स्वभोगकरणं पापरूपमतो ये सन्तो भगवदन्नस्तदुत्पत्तिप्रयोजनज्ञातारो भगवदर्थं पाकादिकं कृत्वा भगवते तत्सर्वं समर्प्य तदुपभुक्तावशिष्टभोजिनस्ते सर्वपापैः सेवाप्रतिबन्धकरूपैः मुच्यन्ते । ये तु पापाः पापरूपा आत्मकारणात् पचन्ति पाकादिक्रियां कुर्वन्ति ते तु अघं पापमेव भुंजते ॥१३॥

यदि यह विचार करें कि यज्ञ के बिना जैसे देवगण दे रहे हैं वैसे ही आगे भी देते रहेंगे अतः यज्ञ करने से ही लाभ क्या ? अतः कहा है 'यज्ञशिष्टाशनः' ।

पूर्वोक्त स्वरूप ज्ञानी यज्ञ का अवशिष्ट भक्षण कर सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं ।

भाव यह है कि अन्नादि रस की उत्पत्ति तो भगवान् के भोग के लिये है, उसका अपने लिये उपयोग करना पाप रूप है। अतः जो भक्त है, अन्नोत्पत्ति प्रयोजन के ज्ञाता हैं वे भगवान् के लिये ही पाकादि व्यंजन निर्माण कर, भगवान् को ही सब कुछ समर्पण कर उनके अवशिष्ट का भोजन कर समस्त पापों (सेवा के प्रतिबन्धकों) से मुक्त हो जाते हैं।

जो अपने ही लिये पाकादि क्रिया करते हैं वे पाप का ही भक्षण करते हैं ॥१३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

ननु रस रूपस्य भगवतोऽन्नादेव केवलात् कथं भोगः सेत्स्यतीत्यत आह । अन्नादिति ।

अन्नाद्भूतानि सजीवशरीराणि भवन्ति तैर्भगवद्भोगः सम्यक् सिद्ध्यति । नन्वन्नादेव भूतोत्पत्तिश्चेत्तदा वृष्ट्यादेः किं प्रयोजनमित्यत आह । पर्जन्यादिति ।

पर्जन्यादन्नस्य संभव उत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः । ननु पर्जन्यश्चेदन्नोत्पादकस्तदा किं यज्ञेनेत्यत आह । यज्ञादिति ।

यज्ञाद् भगवदर्थात् पर्जन्यो भवति । ननु भगवदात्मकत्वमेव यज्ञस्य चेत्तदाऽन्यदेवाद्यर्थं कर्मकरणोपदेशः । कथमित्यत आह ।

यज्ञ इति यज्ञात्मक भगवद्रूप कर्मणा सम्यगुत्पद्यते । अयमर्थः । भगवदंशत्वेन भगवद्विभूतित्वेन कर्मकरणाद्यज्ञात्मक भगवत्प्राकट्यमित्यर्थः ॥१४॥

यदि यह प्रश्न हो कि भगवान् तो रस रूप हैं, केवल अन्न से ही भोग कैसे होगा ? अतः कहा है—

अन्न से ही सजीव शरीर उत्पन्न होते हैं। और उनसे ही भगवद् भोग अच्छी प्रकार सिद्ध होता है। यदि अन्न से ही भूतों की उत्पत्ति होती है तो वृष्टि से क्या? कहा है पर्जन्य से ही अन्न उत्पन्न होता है। यदि पर्जन्य से ही अन्न उत्पन्न होता है तो यज्ञ से क्या लाभ ? अतः कहा है, भगवदर्थ यज्ञ से ही पर्जन्य होता है। यदि यज्ञ भगवदात्मक है तो अन्य देवों के हेतु कर्म करने का उपदेश क्यों ? अतः कहा है कि यज्ञात्मक भगवद्रूप कर्म से ही यज्ञ उत्पन्न होता है।

भाव यह है कि भगवदंश भगवद् विभूति के कारण कर्मकरण रूप यज्ञात्मक भगवान् का ही प्राकट्य है ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

ननु देवानां विभूतिरूपत्वेऽपि साक्षात्पुरुषोत्तम भजनाभावादनुचितमेवेत्याशंक्याह । कर्मेति ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं ब्रह्मणः सकाशादुद्भवं प्रकटं जानीहि । अत्रायं भावः ।

वेदात्कर्मोत्पत्तिः स च ब्रह्मनिःश्वासस्तेन तथा । ब्रह्मणः पुरुषोत्तमत्वज्ञापनार्थं विशिनष्टि अक्षरसमुद्भवमिति तद् ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम् । अक्षरस्य समुद्भवो यस्मात्तादृशम् । अक्षरस्य पुरुषोत्तमचरणात्मकत्वात्तथा तस्मात्कारणात्सर्वगतं सर्वव्यापकं सर्वरूपं नित्यं यद् ब्रह्म तदेव यज्ञे प्रतिष्ठितं तेन न पूर्वोक्तदोष संभावनेतिभावः ॥१५॥

यदि यह विचार करें कि देवता भले ही भगवान् की विभूति हों किन्तु साक्षात् पुरुषोत्तम के भजनाभाव में उनका यजन अनुचित है। अतः कहा है—

कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से ही है। भाव यह है कि वेद से कर्म उत्पन्न है। वेद ब्रह्म का निःश्वास है। वह ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न है। अक्षर पुरुषोत्तम भगवान् का चरण है। इस कारण सर्वव्यापक सर्वरूप नित्य ब्रह्म ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। अतः पूर्वोक्त दोष की संभावना नहीं है ॥१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

एवं भगवदात्मकं कर्म यो न करोति तस्य व्यर्थं जीवनमित्याह एवमिति । एवं प्रकारेण प्रवर्तितं चक्रं स्वतः प्रवृत्तं मदिच्छया मत्क्रीडार्थं प्रवृत्तं यो नानुवर्तयति नानुतिष्ठति सः अघायुः पापायुः पापमेवायुर्यस्य तादृशः । इन्द्रियारामः । इन्द्रियेष्वेव इन्द्रियार्थं वा आरमति न तु मदर्थं मयि वा अतो मोघं व्यर्थं स जीवति । पार्थेति संबोधनात् न स्वभक्तत्वात्तव तथा ज्ञानमनुचितमिति ज्ञापितम् ।।१६।।

इस प्रकार भगवदात्मक कर्म जो नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है ।

इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का, जो मेरी क्रीडा के लिये प्रवृत्त है, अनुष्ठान नहीं करता वह पाप रूप आयुवाला, इन्द्रियों में ही रमण करनेवाला या इन्द्रियों के लिए रमण करनेवाला है, मेरे लिये नहीं । अत: वह व्यर्थ ही जीवित है ।

पार्थ संबोधन इसलिये है कि तेरा वैसा ज्ञान अनुचित है ।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।१७।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थं व्यपाश्रयः ।।१८।।

नन्वेवं चेत्तदा सर्व एव स्वभक्ताः कथं न कुर्वन्तीत्यत आह द्वयेन । यस्त्वात्मरतिरेवेति ।

यस्तु आत्मरतिरेव आत्मनि मय्येव रतिर्यस्य तादृशः स्यात् । यश्च आत्मतृप्तश्च भगवदानन्देन तृप्तः सुखितः आत्मन्येव भगवत्येव संतुष्टः । स्वभोगापेक्षारहितः । तस्य कार्यं कर्त्तव्यं न विद्यते नास्तीत्यर्थः । तस्य तादृशस्य भक्तस्य कृतेनापि कर्मणा अर्थः प्रयोजनं पुण्यादिरूपं नास्तीत्यर्थः । अकृतेन च कश्चन प्रत्यवाय पापादिकं च नास्तीत्यर्थः । अस्य भक्तस्य सर्वभूतेषु देवादिषु अर्थार्थं मोक्षभक्त्याद्यर्थं च व्यपाश्रय आश्रयो नास्तीत्यर्थः ।।१७-१८।।

यदि ऐसा ही है तो तुम्हारे समस्त भक्त गण ही ऐसा क्यों नहीं करते, इसे दो श्लोकों से कहा है ।

जो मुझ में रति करता है और जो भगवदानन्द से तृप्त है, जो आत्मनि अर्थात् भगवान् में ही संतुष्ट है, अपने लिये भोग की अपेक्षा नहीं रखता, उसे कुछ भी करना शेष नहीं है ।

वह यदि कर्म करता है तब भी पुण्यादि रूप प्रयोजन शून्य होता है । यदि वह कर्म नहीं करता तो उसे प्रत्यवाय भी नहीं लगता । ऐसा वह भक्त भूतों में देवादिकों में मोक्ष, भक्ति के अर्थ आश्रय की कामना शून्य होता है ।।१७-१८।।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।१९।।

यतो भक्तानां कर्मादिकरणे अकरणे वा न कोऽपि पुरुषार्थो हानिर्वाऽस्त्यतस्त्वमपि मदाज्ञारूपत्वेनावश्यकर्त्तव्यत्वात्कर्म कुर्वित्याह तस्मादिति ।

यस्माद्भगवद्भक्तानां कर्मकरणे न फलं अकरणे च न प्रत्यवायस्तस्मात्त्वमसक्तोऽनासक्तः सन् सततं कार्यं नित्यकर्म समाचर कुरु । नन्वनासक्तो नापि कृतं कर्म बाधकं भवत्येवेति चेदत आह । असक्त इति ।

पुरुषः पुरुषांशो भोक्ताधिकारी हीति निश्चयेन असक्तो न तु कापट्येन कर्म आचरन् परं मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ।।१९।।

भक्त कर्म करे या न करे, कर्म करने से उन्हें न तो कोई पुरुषार्थ सिद्धि है और न न करने से हानि । अत: अर्जुन तू भी मेरी आज्ञा रूप होने के कारण कर्म कर ।

भगवद्भक्तों को कर्म करने में फल नहीं और न करने में प्रत्यवाय नहीं, इसलिये अनासक्त होकर नित्यकर्म करना चाहिये ।

यदि यह विचार करें कि अनासक्ति पूर्वक किया कर्म भी बाधक होगा तो कहा है—

पुरुषांश भोक्ताधिकारी ही—निश्चय अशक्त है, कपट पूर्वक आचरण कर्ता मोक्ष प्राप्त नहीं करता ॥१९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥२०॥

एवमनापन्नाः कर्मकर्तारो मोक्षं प्राप्ता इत्याह कर्मणैवेति । हीति निश्चयेन । कर्मणा अनासक्तकर्मणा जनकादयः संसिद्धिं मुक्तिं आस्थिताः प्राप्तवन्तः । जनकादयस्तु न साक्षात्त्वां प्रपन्ना इत्यनासक्त्यापि तेषां करणं युक्तम् । न तु मम त्वां प्रपन्नस्योचितमित्याशंक्याह । लोकसंग्रहमिति ।

लोकसंग्रहमपि संपश्यन् कर्तुमेवार्हसि । अत्रायं भावः ।

यद्यपि मद्भक्तस्य नावश्यकं तथापि मदाज्ञया लोकसंग्रहार्थं कर्तुमेवार्हसि न तु तज्जनितसिद्ध्याद्यर्थम् । अयमेवार्थ एवकारेण विविच्यते ॥२०॥

अनासक्त कर्म से ही जनकादि मुक्ति को प्राप्त कर चुके हैं । जनकादि तो तुम्हें साक्षात् प्राप्त नहीं कर सके अतः अनासक्तिपूर्वक उनका कर्म करना तो युक्त है किन्तु मेरी शरण में आये हुए तुमको ऐसा करना उचित है । अतः कहा है लोकसंग्रह देखते हुए करना योग्य है । यद्यपि मेरे भक्त को कर्म आवश्यक नहीं तथापि मेरी आज्ञा से लोकसंग्रह के निमित्त ही इसे करना चाहिये ।

तज्जनित सिद्धि के लिये कर्म नहीं करना चाहिये यह 'एव' पद से स्पष्ट है ॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥२१॥

ननु लोकसंग्रहोऽपि भक्तानामनुचित एवेत्यत आह । यद्यदा इति ।

श्रेष्ठो मद्भक्तो यद्यदाचरति तदेवेतरो जन आचरति । स मद्भक्तो यदेव प्रमाणं कुरुते लोकस्तदेवानुवर्तते प्रमाणत्वेनाङ्गी कुरुते । अयं भावः ।

भक्तानां लोकसंग्रहो मदाज्ञया कर्तव्यः । यतस्तदाचरणं दृष्ट्वा लोकोऽपि तथैव कुर्यात् । तत्स्वरूपाज्ञानेऽपि तदाऽनधिकारित्वात्फलं तु न स्यादेव फलदाने च मदिच्छा न । यतो भक्तिः परमकृपया कस्मैचिदेव दीयते न सर्वेभ्यः । सर्वेभ्यो दाने सृष्टिरेवोच्छिद्येत । अतस्तद्गोपनेन सृष्टिप्रवृत्त्यर्थं बाह्यतः कापट्येन कर्म कर्त्तव्यमिति भावः ॥२१॥

यदि यह शंका उठे कि लोकसंग्रह भी भक्तों को अनुचित है । तो समाधान करते हुए कहा है कि मेरा श्रेष्ठ='भक्त' जैसा आचरण करता है वैसा ही अन्य जन भी करते है । मेरा भक्त जिसे प्रमाण मानता है, लोक भी उसे प्रमाण मानता है ।

भाव यह है कि भक्तों को लोकसंग्रह मेरी आज्ञा से करना चाहिये जिससे उनके आचरण को देखकर लोक भी वैसा करे । यदि वह स्वरूप नहीं जानता तब भी उसका अनधिकारी होने से फलभागी तो होगा ही नहीं और फलदान में मेरी इच्छा भी नहीं है, क्योंकि भक्ति तो परमकृपा से किसी को ही दी जाती है—सबको नहीं । यदि भक्ति सबको ही दी जाय तो सृष्टि का उच्छेद हो जाय । अतः उसे छिपाकर सृष्टि की प्रवृत्ति के लिये बाह्य रूप से कपट कर्म करना चाहिये ॥२१॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥२२॥

मयापि तथैव क्रियत इत्याह । न मे पार्थेति । हे पार्थ, परमानुगृहीत मे त्रिषु लोकेषु किंचन कर्त्तव्यं नास्ति । न वा अनवाप्तं अवाप्तव्यं प्राप्तव्यं तथापि लोकसंग्रहार्थमहं कर्मणि वर्त्ते कर्मंकरोमीत्यर्थः ॥२२॥

मैं भी ऐसा करता हूं । अतः कहा है—'न मे पार्थ' ।

हे पार्थ=परमानुगृहीत मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करने योग्य शेष नहीं है । और न अप्राप्त को प्राप्त ही करना है तथापि लोकसंग्रह के लिये मैं कर्म करता हूं ॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

ननु त्वदकरणे किं स्यादित्यत आह यदीति ।

अहं जातु कदाचिदपि कर्मणि अतन्द्रितो निरालस्यः सन् न वर्तेयं न प्रवृत्तो भवामि तदा मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म भक्तिमार्गमनुवर्तन्त इत्यर्थः । अतस्तेषां ततो निवृत्त्यर्थं कर्ममार्गप्रवृत्त्यर्थं कर्म करोमीति भावः ॥२३॥

यदि मैं कर्म न करूँ या आलस्य रहित होकर न रहूँ तो सब मनुष्य मेरे भक्ति मार्ग का ही अनुसरण करेंगे । अतः उनकी निवृत्ति के लिये कर्म करता हूँ ॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

ननु तथा तदकरणे किं प्रयोजनकमित्यत आह । उत्सीदेयुरिति ।

अहं चेत्कर्म न कुर्यां तदा इमे लोका उत्सीदेयुः । अत्रायं भावः । सर्वेषां भक्तिप्रवृत्तौ सत्यां भगवत्साक्षात्कारो मुक्तिर्वा स्यात्तदा इमे मन्वादयो लोकाः सृष्ट्यभावादुच्छिन्ना भवेयुः ।

अतएव भगवता वृषभध्वजे आज्ञप्तं पाद्मे—'त्वं च रुद्र महाबाहो' इत्यारभ्य 'सृष्टिरेषोत्तरोत्तरे'त्यन्तम् । च पुनरिमाः प्रजा उपहन्यां तदाऽहमेव संकरस्य नरकसाधनस्य कर्त्ता स्यां भवानि । अयमर्थः । मदाज्ञया ब्रह्मादयः प्रजा सृजन्ति ताश्चेदहमुपहन्यां तदननुकूलो भवामि । तदा संकरस्य क्लिष्टस्य कर्त्ता स्यां प्रजानां च मदिच्छाव्यतिरेकेण भक्तिस्वरूपाज्ञाने सति प्रवृत्तौ संकरत्वं स्यात् फलाभावे भक्तिफलव्यभिचारोऽपि स्यात् तदापि तत्कर्ताऽहमेव स्याम ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो लोक ही उच्छिन्न हो जाय ।

भाव यह है कि भक्ति में प्रवृत्त होने पर सब को भगवत्साक्षात्कार या मुक्ति न होगी तो ये लोक भी नष्ट हो जायेंगे ।

अतएव भगवान् ने वृषभध्वज को आज्ञा दी । पद्मपुराण में 'त्वं च रुद्र महाबाहो' से 'सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा' तक यदि मैं ही इस प्रजा को नष्ट करूँ तो मैं ही संकर—नरक साधन का कर्त्ता बन जाऊँगा । मेरी आज्ञा से ब्रह्मादि प्रजा रचते हैं । यदि मैं उनके प्रतिकूल बनूँ तो संकट का कर्त्ता बनूँगा । भक्ति स्वरूप के बिना जाने प्रवृत्ति होने पर संकर होगा, फलाभाव में भक्तिफल व्यभिचार भी होगा । तब भी इसका कर्त्ता मैं बनूँगा ॥२४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

अतस्तत्स्वरूपज्ञानेन लोकसंग्रहार्थं कर्मस्वनासक्तः कर्म कुर्यादित्याह । सक्ता इति ।

यथा अविद्वांसो मूर्खाः कर्मणि सक्तास्तत्फलाभिलाषिणो विषयादीन् न त्यक्तुं समर्थाः कर्म कुर्वन्ति तथा विद्वान् पण्डितो मत्स्वरूपज्ञो लोकसंग्रहं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुस्तत्रासक्तिरहितो मदाज्ञया कुर्यादित्यर्थः ॥२५॥

अतः भगवान् के स्वरूप ज्ञान से लोकसंग्रहार्थ कर्मों में अनासक्त होकर कर्म करना चाहिये ।

जैसे मूर्ख कर्म में आसक्त होकर उन कर्मों के फल की अभिलाषा वाले विषयादिकों को त्यागने में समर्थ नहीं होते और कर्म करते हैं वैसे ही पण्डित मेरे स्वरूप को जान कर लोकसंग्रह की इच्छा करने वाला उन कर्मों में अनासक्त रहकर मेरी आज्ञा से कर्म करे ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ननु लोकसंग्रहार्थमेव चेत्कर्म कर्त्तव्यं तदा यथा कथंचित्कर्त्तव्यं यथा तेऽज्ञानेन कुर्वन्ति तथा करणे किं प्रयोजनकमित्याकाङ्क्षायामाह । न बुद्धिभेदं जनयेदिति ।

कर्मसंगिनां बुद्धिभेदं न जनयेत् । तथा करणे तेषां भ्रमो भवेत् । भ्रमे सति कर्म न कुर्युरेव । ननु कर्मणा चित्तशुद्धौ सत्यां कथं भ्रम इत्यत आह । अज्ञानामिति ।

न हि अज्ञानश्चित्तशुद्ध्यर्थं कर्म कुर्वन्ति किन्तु कर्मैवेश्वरं मन्यमानाः फलरूपेणान्यं पण्डितं कर्म कुर्वाणं वीक्ष्य कुर्वन्ति अत एव कर्मसंगिनामित्युक्तं न तु कर्मिणाम् ।

विद्वान् युक्तो मां हृदि स्थाप्य मद्युक्तः स्वयं समाचरन् सम्यगाचरन् मत्सेवादि कुर्वन् अन्येषां बुद्ध्यर्थं सदा कर्माणि अन्यान् अज्ञान् जोषयेत् कर्म कारयेदित्यर्थः ॥२६॥

यदि लोक संग्रह के लिये ही कर्म करना है तो जो अज्ञान से करते हैं वह क्यों ? अतः कहा है —

कर्म संगियों में बुद्धि भेद उत्पन्न न करे । वैसा करने से उनको भ्रम होगा । और भ्रम होने पर कर्म न करेंगे ।

यदि यह कहें कि कर्म से चित्त शुद्धि होने पर भ्रम न होगा अतः कहा है —

अज्ञ लोग चित्त शुद्धि के लिये कर्म नहीं करते, किन्तु कर्म को ही ईश्वर मान कर फल रूप से अन्य पण्डितों को कर्म करता देखकर कर्म करते हैं अतः 'कर्मसंगि' पद रखा है, कर्मि नहीं ।

विद्वान् युक्त होकर मुझे हृदय में स्थापित करके, मेरी सेवादि करके अन्यों — अज्ञों को भी कर्म में प्रवृत्त करावे ॥२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥

ननु विद्वानपि चेत्तथा कुर्यात्तदाऽविदुषः सकाशात् को भेदस्तज्ज्ञानस्य च क्वोपयोगः । संपूर्णे काले कर्मव्यापृत्या सेवायामनवसरादित्यतोऽविदुषो विदुषश्च भेदमाह प्रकृतेरिति ।

अहंकारेण विमूढात्मा अविद्वान् सर्वशः प्रकृतेर्गुणैरिन्द्रियैः क्रियमाणानि कर्माणि अहमेव कर्त्तेति मन्यते न तु भगवदिच्छाम् । तानि च भगवाँल्लोकव्यामोहार्थं कारयति ॥२७॥

यदि विद्वान् भी वैसा करें तो अविद्वान् से भेद क्या ? और विद्वान् के ज्ञान का उपयोग कहाँ होगा ? क्योंकि विद्वान् को तो सेवादि का अवसर ही नहीं मिलेगा । अतः भेद बतलाते हैं—

अहंकार से विमूढात्मा अविद्वान् इन्द्रियों द्वारा किये गये कर्मों का कर्त्ता अपने को मानता है, भगवान् की इच्छा को नहीं । उनसे भगवान् लोक व्यामोहार्थ कर्म कराते हैं ॥२७॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

एवमविदुषः स्वरूपमुक्त्वा विदुषस्वरूपमाह । तत्त्वविदिति ।

हे महाबाहो, ज्ञात्वाक्रियाकरणसमर्थं क्रियावान् गुणकर्मविभागयोस्तत्त्ववित् गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा कर्मसु न सज्जते । अत्रायं भावः ।

गुणास्तु भगवता सात्त्विकादिभावभिन्नविचित्र स्वरसभोगार्थं प्रकटीकृताः । अत एव व्रजविलासिनीषु सात्त्विकादिगुणा निरूपिताः श्रीभागवते । कर्म तु लोकसंग्रहार्थं कार्यते । तथा चैतद्विभागतत्त्ववित् गुणा जीवरूपा गुणेषु भगवद्गुणेषु वर्त्तन्ते प्रभुः स्वरसभोगार्थं गुणभावैस्तदुपयोगिकर्माणि कारयति । अन्यानि कर्माणि तु लोकार्थं कारयतीति मत्वा मूढवदेवाहमेव कर्त्ता तत्फलं मम भविष्यतीति न सज्जत इति भावः ॥२८॥

अविद्वान् का स्वरूप बतलाकर विद्वान् का स्वरूप बतलाते हैं ।

हे महाबाहो, ज्ञान पूर्वक क्रिया करने में समर्थ गुण कर्म विभाग का तत्त्व जाननेवाला, गुण गुण में ही रहता है, यह मानकर कर्म में आसक्त नहीं होता ।

भगवान् ने गुणों को सात्त्विकादि भावभिन्न विचित्र स्वरस को भोगार्थ प्रकट किया है । अतः भागवत में व्रज विलासिनियों में सात्त्विकादिगुण निरूपित किये हैं । कर्म

तो लोकसंग्रहार्थ ही किया गया है । जीवस्थगुण भगवद् गुणों में रहते हैं । इस विभाग तत्त्व को जाननेवाला और प्रभु ही स्वरस भोग के लिये गुणभावों से तदुपयोगी कर्म कराते हैं, अन्य कर्मों को लोकार्थ कराते हैं ऐसा मानकर मैं ही कर्ता हूं, इस कर्म का फल भी मुझे मिलेगा, इसमें विद्वान् कभी आसक्त नहीं होते ॥२८॥

प्रकृतेर्गुण संमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

ननु ते अज्ञात्वा तथा कुर्वन्तीति तान् शिक्षयेन्न तु पुनस्तथैव प्रेरयेदित्यत आह प्रकृतेरिति ।

प्रकृतेर्गुणैः संमूढाः कर्मफलाभिलाषिणो गुणकर्मसु देहधर्मेषु फलार्थं सज्जन्ते आसक्ता भवन्ति । यतोऽकृत्स्नविदाः भगवत्प्राप्तिरूपं अशेषफलरूपं न जानन्ति । कर्मफलं लौकिकसुखं फलरूपं जानन्तीत्यर्थः । यतस्ते तत्रासक्तास्तेन ततो न मनो भगवति संविशेदतस्तान् मन्दान् मूर्खान् भूयः फलासक्तचित्तान् । कृत्स्नवित् भगवत्प्राप्तिरूपाशेषानन्दवित् न विचालयेत् । भगवन्मार्गे न प्रेरयेत् । ततोऽपि वा न चालयेत् । दुष्टसंगात् स्वस्यान्यथाभावं नयेदिति भावः ॥२९॥

यदि यह शंका करें कि वे अज्ञान में वैसा करते हैं तो उन्हें शिक्षा देनी चाहिये, प्रेरणा नहीं । अतः कहा है—

प्रकृत गुणों से संमूढ हुए कर्मफल की अभिलाषा वाले गुणधर्म=देहधर्म में फलार्थ आसक्त नहीं होते । वे अकृत्स्नविद् हैं=भगवत्प्राप्तिरूप अशेषफल रूप को नहीं जानते । कर्म के फल को लौकिक सुख फलरूप जानते हैं । क्योंकि वे वहां आसक्त हैं, अतः भगवान् में मन नहीं लगता । इसी से उन फलासक्त मूर्खों को कृत्स्नविद्="भगवत्प्राप्तिरूप अशेषानन्दवेत्ता" भगवन्मार्ग में प्रेरित न करे । कर्म से भी विचलित न करे । दुष्ट संग से स्वयं दूर रहे ॥२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः ॥३०॥

ननु तेषां कर्मकारणार्थं स्वस्य कर्मकरणे यावत्कालो गच्छति तावत्कालव्यर्थीभावाऽपराधः स्वस्य स्यादित्यत आह । मयि सर्वाणीति ।

मयि संन्यस्य आधिदैविक भावेन सर्वं त्यक्त्वाऽध्यात्मचेतसा अध्यात्मभावेन मदाज्ञारूपेण सर्वाणि कर्माणि कुर्वित्यर्थः । मदाज्ञाकरणे कालव्यर्थता न भविष्यतीति भावः ।

सर्वपदेन लौकिककार्याण्यपि कुर्वित्यर्थः । लौकिक कर्मकरणमेवाह । निराशीरिति । निराशीः युद्धजस्वर्गादिफलानभीप्सुः । निर्ममः राज्यादिप्राप्त्यभावरहितः स्वीयेषु परेषु च भ्रातृ गुर्वादिबुद्धिरहितो विगतज्वरो लौकिकतापरहितो मदाज्ञया युद्धपरो युद्धं कुर्वित्यर्थः । त्वामुद्दिश्य तु शास्त्रं कर्म युद्धरूपं मयोच्यते न तु पूर्वोक्तमन्यत्कर्म । अतो युद्धमेव कुर्वित्यर्थः ॥३०॥

यदि यह शंका हो कि कर्म कराने के लिये, अपने कर्म करने के लिये जितना समय व्यतीत होता है उतना व्यर्थ है । इसका अपराध भी अपने को होगा । अतः कहा है—

मुझ में संन्यास लेकर अर्थात् आधिदैविक भाव से सब कुछ त्याग कर अध्यात्म-चित्त से मेरे आज्ञा रूप से सब कर्म करे । मेरी आज्ञा से करने पर काल व्यर्थता न होगी ।

सर्व पद से लौकिक कार्य करने की भी आज्ञा है । लौकिक कर्म करने के लिये ही कहा है कि निराशीः=युद्ध में मिलने वाले स्वर्गादि फल न चाहने वाला, निर्ममः=राज्यादि मेरे नहीं ऐसा विचार करनेवाला, अपने परायों में भ्रातृ गुरु आदि बुद्धि से रहित होकर लौकिक ताप से रहित होकर युद्ध कर ।

तुझे उद्देश्य करके तो शास्त्रकर्म युद्ध रूप में कह रहा हूं, अन्य कर्म नहीं । अतः तू तो युद्ध ही कर ॥३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

अर्जुनार्थं चेद्भगवतोक्तं स्यात्तदार्जुनस्य तत्रैवासक्तिः स्यात्तदाग्रे बुद्धिरूपसर्वत्यागोपदेशोऽनुपपन्नः स्यात्। अर्जुनस्याप्यन्यत्रानधिकाराद्भगवदुक्तेषु धर्मेष्वपि न प्रवृत्तिः। स्वयोग्योपदेशार्थं पुनः पुनः प्रश्नानेव कृतवान्। ननु तदर्थं नोक्तं चेत्किमर्थम्। तदर्जुनद्वारा सकलसन्मार्गप्रवृत्त्यर्थमुक्तम्। तदेवाह।

परं योऽन्योऽप्येवं कुर्यात्तस्यापि कर्मणो बन्धो न स्यादित्याहुः ये मे मतमिति। ये मानवाः मद्धर्मोत्पन्ना मे मतमिदं पूर्वोक्तं श्रद्धावन्तो मदुक्तत्वादनसूयन्तोऽसहिष्णुताहीना अनुतिष्ठन्ति तेऽपि मदाशया कृतत्वान्मदुक्तिविश्वास-कर्मभिस्तज्जन्यफलभोगैर्मुच्यन्ते। मदाशया तेऽन्यकर्मण्यपि मोक्षसाधकान्येव भवन्तीत्यर्थः। ये मदाज्ञारूपत्वं विहाय कर्मैव फलसाधकं फलरूपमिति ज्ञात्वा कुर्वन्ति ते नश्यन्तीत्याहुः ये त्वेतदिति। ये तु एतन्मम मतं अभ्यसूयन्तः कौटिल्येन जानन्तो नानुतिष्ठन्ति। तान् सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसः शून्यहृदयान् नष्टान् नाशं प्राप्तान् विद्धि जानीहि। मदाज्ञातिरेकं कर्मकर्त्तारो नश्यन्तीति भावः ॥३१-३२॥

यदि योगादि के उपदेश केवल अर्जुन के लिये हैं तो अर्जुन की उसमें ही आसक्ति होगी और आगे जिसका वर्णन करेंगे उस बुद्धि रूप त्याग का उपदेश अनुपपन्न होगा। अर्जुन का अन्यत्र अधिकार नहीं है अतः उक्त भगवद्धर्मों में भी प्रवृत्ति न होगी। इसलिये अपने योग्य उपदेश के अर्थ उसने पुनः पुनः प्रश्न किये।

यदि यह मानें कि अर्जुन के लिये नहीं बतलाये तो भी प्रश्न है क्यों?

अर्जुन के द्वारा सकल सन्मार्ग प्रवृत्ति के लिये ही कहा है—

जो मानव मद्धर्म से उत्पन्न मेरे मत को श्रद्धापूर्वक, सहिष्णुतापूर्वक श्रवण करते हैं, अनुष्ठान करते हैं, उनको कर्म सम्बन्धी बन्धन नहीं होता। मेरी आज्ञा से मेरी उक्ति में विश्वास करने के कारण अन्य कर्म भी मोक्ष के साधक बन जाते हैं। जो मेरी आज्ञा का परित्याग कर कर्म को ही फलसाधक फल मानते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। अतः कहा है 'ये मे'।

जो मेरे मत से ईर्ष्या करते हैं और आचरण नहीं करते उन ज्ञान विमूढ़ों को, शून्य हृदयों को नष्ट हुआ ही समझना चाहिये।

भाव यह है कि मेरी आज्ञा के अतिरिक्त कर्म करनेवाले नष्ट हो जाते हैं ॥३१-३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ननु त्वन्मतं विहाय नाशसाधने कथमनुवर्तन्ते इत्याशंक्याहुः सदृशमिति।

ज्ञानवानपि नरः स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते करोति। अत्रायं भावः।

प्रकृत्यंशो जीवो न भगवदुक्ते प्रवर्तते तदंशत्वात्। अत एव स्मर्यते 'यो यदंशः स तं भजेत्।' माया तु भगवद्दत्तसामर्थ्येन ज्ञानवतोऽपि मोहयति। अत एव मार्कण्डेयपुराणे—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥

इति उक्तम्।

ननु सत्संगेन श्रीमद्वाक्येन वा कथं न ते यजन्ति। तत्राहुः। भूतानि प्रकृतिं स्वाधिष्ठानमेव यान्ति। एतदर्थमेव नपुंसकत्वमुक्तं। निग्रहः सत्संगादीनां किं करिष्यति। अकिंचित्करेष्वित्यर्थः ॥३३॥

प्रश्न है कि वे तुम्हारे मत का परित्याग कर अन्य कर्म कैसे करते हैं? अतः कहा है—

ज्ञानवान् मानव भी अपनी प्रकृति के समान चेष्टा करता है।

भाव यह है कि प्रकृति का अंश जीव भगवदुक्त में भगवान् का अंश होने के कारण प्रवृत्त नहीं होता। अतः कहा भी गया है कि 'जो जिसका अंश है, वह उसे भजे। भगवान् द्वारा दत्त सामर्थ्य से माया ज्ञानवान् को भी मोहित कर लेती है।

मार्कण्डेय पुराण में लिखा है—

'देवी भगवती ज्ञानियों के चित्त को बलपूर्वक खींचकर महामाया को दे देती हैं।'

सत्संग से या भगवद् वाक्य से वे यजन क्यों नहीं करते ?

कहा है कि भूत अपने अधिष्ठान को प्राप्त कर लेते हैं, इसलिये ही नपुंसकत्व कहा है। निग्रह सत्संग का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता ।।३३।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।३४।।

ननु प्रकृतेर्भगवद्दत्तसामर्थ्यान्निग्रहादीनामसाधकत्वे पुरुषांशजीवानां कथं फलसिद्धिरित्यत आहुः । इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे इति ।

इन्द्रियस्य इन्द्रियाणां जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । इन्द्रियस्यार्थे रूपादौ रागद्वेषौ व्यवस्थितौ नियतभावौ । इष्टे रागोऽनिष्टे द्वेषः । अवश्यमेतौ भाविनौ । तयोरिष्टानिष्टयो रागद्वेषयोर्वा वशं नागच्छेत् । यतस्तावस्य परिपन्थिनौ द्वेषिणौ मार्गविच्छेदकौ । अत्रायमर्थः ।

मायायाः स्वीयान्तानां तत्सम्बन्धिनां च मोहनसामर्थ्यं भगवता दत्तमतः पुरुषांशो जीव इन्द्रियादिवशं नागच्छेत्तदा मोहो न भवेत् । मायायाः स्वसम्बन्धिमोहकसामर्थ्यज्ञापनायैव पूर्वं भूतानीति नपुंसकलिंगमुक्तम् । अत्रोपदेशे चास्येत्यनेन पुंल्लिंगमुक्तं विषयादिसंगस्य मोहरूपत्वादेव श्री भागवते—

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसंगतः ।
योषित्संगाद्यथा पुंसो यथा तत्संगिसंगतः ।। इत्युक्तम् ।।३४।।

यदि यह कहें कि भगवद्दत्त सामर्थ्य से निग्रहादि असाधक हैं तो पुरुषों को फलसिद्धि कैसे होगी ? अतः कहा है कि इन्द्रिय के लिये राग-द्वेष नियत हैं।

इन्द्रिय में जाति के अभिप्राय से एक वचन है। इष्ट में राग होता है और अनिष्ट में द्वेष। इन दोनों के वश में न रहे, क्योंकि वे राग-द्वेष मार्ग के विच्छेदक हैं।

भगवान् ने माया को अपने मोहन की सामर्थ्य प्रदान की है अतः पुरुषांश जीव इन्द्रियों के वश में नहीं आ सकता और तब मोह भी नहीं होता।

भूतानि में नपुंसकलिंग का ज्ञापन यह सिद्ध करता है कि माया स्व सम्बन्धियों को ही मोहित करती है।

विषयादि का मोह रूप है अतः 'अस्य' में पुंल्लिंग का प्रयोग किया है।

भागवत में भी कहा है कि इसका मोह वैसा नहीं होता जैसा कि स्त्री के संग या स्त्री संगी के संग से होता है ।।३४।।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३५।।

ननु सर्वप्रकारेण भगवदुक्तधर्मस्य कठिनत्वात् कथं सिद्धिरित्याशंक्याहुः । श्रेयानिति ।

स्वधर्मो भगवद्धर्मः विगुणः अङ्गादिभावरहितः परधर्मात् मोहकधर्मात् स्वनुष्ठितात् सुष्ठु प्रकारेणानुष्ठितात् संपादितात् श्रेयान् उत्तमः । यतः पूर्वं विगुणोऽपि भगवद्धर्मो मरणसमये भगवत्स्मारकत्वेनोपयुक्तो भवति तस्मात् स्वधर्मे सति निधनं मरणं श्रेयः मोक्षज्ञापकमित्यर्थः ।

परधर्मो मरणसमये पूर्वानुष्ठितः स्वविषयस्मारको भवत्येव, स तत्काले यमदूतादिदर्शकत्वेनाग्रे च नरकादियातनाया तत्साधकत्वेन च भयावहः । भयकर्तेत्यर्थः ।।३५।।

यदि यह कहें कि भगवदुक्तधर्म सर्वतोभावेन कठिन है तो सिद्धि कैसे होगी ? अतः कहा है कि—

स्वधर्म=भगवद्धर्म, अङ्गादि भावरहित भगवद्धर्म परधर्म मोहकधर्म से उत्तम है। क्योंकि विगुण धर्म=भगवद्धर्म मरण समय में भगवान् का स्मरण कराता है। अतः स्वधर्म में मरण श्रेय है, मोक्ष प्रापक है।

परधर्म मरण समय में पहले अनुष्ठित किया स्व विषय का स्मारक ही होगा। वह धर्म यमदूतादि का दर्शन देने वाला और आगे नरकादि यातनाओं का साधक होने के कारण भयावह है ॥३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अथ पुरुषांशानामधिष्ठाता तु भगवान् स चैवमुपदिशति। माया केषांचन मोहयितुं प्रोक्ता तदा केन चिन्नियुक्तः सन्नयं पापाचरणे प्रवर्तेत इत्यर्जुनो जिज्ञासुर्विज्ञापयति।

अर्जुन उवाच। अथकेनेति।

अथ पुरुषः पुरुषसम्बन्धित्वादनिच्छन्नपि हे वार्ष्णेय भक्तिधर्मप्रवृत्त्यर्थं सत्कुलाविर्भूत बलान्नियोजित इव अधिष्ठात्रा प्रेरित इव केन प्रयुक्तः। पापं चरति, पापगतियुक्तो भवति। तत्फलभोगं च करोति ॥३६॥

यदि यह कहें कि पुरुषांशों का अधिष्ठाता तो भगवान् ही है, और वह उपदेश दे रहा है। माया किन्हीं को मोहित करती है तब किन्हीं के द्वारा ही नियुक्त जीव पापाचरण में प्रवृत्त होता है। अतः जिज्ञासु अर्जुन प्रश्न करता है।

हे वार्ष्णेय, यह पुरुष बिना इच्छा भी भक्ति मार्ग की प्रवृत्ति के लिये सत्कुल में आविर्भूत बलपूर्वक नियोजित-सा, अधिष्ठाता द्वारा प्रेरित-सा पाप गति युक्त होता है ॥३६॥

श्री भगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

एतत्प्रश्नोत्तरमाह भगवान्।

प्रपंचवैचित्र्यार्थप्रकटितत्रिगुणमध्यस्थ विक्षिप्तकरणैकस्वभावरजोगुणात्मकभगवदंशमोहितस्तत्र प्रवर्तते तस्मात्तद्गुणकृतविशेषकर्माणि तत्स्वरूपज्ञानपूर्वकं त्यजेदित्याह। काम एष इति।

एष इति लौकिकः कामः। रजोगुणसमुद्भवः रजोगुणादुत्पत्तिर्यस्य सः। सर्वेषां द्वेषी शत्रुः। एष एव कामोऽवस्थान्तरापन्नः क्रोधो भवति सोऽपि रजोगुणसमुद्भवः। स महाशनो दुरापूरः। अतएव श्रीभागवते उक्तम्।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ भा० ९।१९।१४

किं पुनर्महापाप्मा महापापरूपो भगवद्भजनप्रतिबन्धकः।

इह संसारे देहग्रहणानन्तरमेनं वैरिणं विद्धि। इहेति पदादेतद्देहावसाने सति अलौकिकेऽप्यमेव कार्याय भविष्यतीति भावः ॥३७॥

उत्तर में भगवान् ने कहा कि प्रपंच वैचित्र्य के लिये जिन ती ओं को भगवान् ने प्रकट किया है उनके मध्यवाला अर्थात् रजोगुण उस रजोगुणात्मक भगवदंश से मोहित होकर यह जीव प्रवृत्त होता है। अतः उन उन गुणों द्वारा किये उनके विशेष कर्मों को उनके स्वरूप का ज्ञान कर त्यागना ही उचित है। अतः कहा है 'काम एष'।

लौकिक काम रजोगुण से उत्पन्न है। वह सबका द्वेषी है। यही काम अवस्थान्तर में क्रोध होता है। वह महाशन है। उसका पूरा होना कठिन है। अतएव भागवत में कहा है—

कामों की शान्ति काम भोगने से नहीं होती। जैसे कोई हविष्यान्न डालकर सोचे कि अग्नि शान्त हो वैसा ही काम भोग से काम शान्ति समझना है।

यह तो महापाप रूप है। देह ग्रहणानन्तर ही इसे वैरी समझना चाहिये।

इह पद का भाव यह है कि यही देहपात के पश्चात् अलौकिक में कार्य का उपयोगी हो जाता है ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

यतोऽयं वैरी ततोऽस्य ज्ञानमावर्णयति तेन मोहो भवतीत्याह [illegible] धूमेनेति ।

यथा धूमेन वह्निराव्रियते । मलेन आदर्शो वाव्रियते । उल्बेन गर्भवेष्टनेन गर्भ आवृतः । तथा तेन कामेन इदं ज्ञानमावृतम् ।

अत्र दृष्टान्तेषु वन्ह्यादित्रयनिरूपणस्यायं भावः । प्रथमदृष्टान्तेन भगवत्तापात्मकं ज्ञानं व्यज्यते । द्वितीयेन सेवायोग्य एव स्वरूपप्राप्तिरूपं ज्ञानं व्यज्यते । तृतीयेन बीजभावोऽस्यात्मकज्ञानं व्यज्यते ॥३८॥

काम वैरी है अतः जीवात्मा के ज्ञान को आवृत्त करता है । इससे मोह होता है । इसीलिये कहा है —

जिस प्रकार धूम से वन्हि आवृत रहता है, जिस प्रकार मल से आदर्श-दर्पण आवृत रहता है और गर्भावेष्टन से गर्भ आवृत रहता है उसी प्रकार काम से ज्ञान भी आवृत रहता है ।

यहाँ तीन दृष्टान्त दिये हैं । प्रथम दृष्टान्त से भगवत्तापात्मक ज्ञान, द्वितीय से सेवा योग्य रूप स्वरूप प्राप्ति रूप ज्ञान और तृतीय से बीज भावोऽस्यात्मक ज्ञान व्यक्त है ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौन्तेय ! मूलतो भक्त मदुपदेशयोग्य ज्ञानिनो मदंशत्वेन स्वस्वरूपज्ञानवतो । नित्य वैरिणा तेन कामेन ज्ञानमावृतं च पुनरनलेन रसपाचकेन [illegible]त्वेन तेनापि कामवृद्धिर्भवतीति कामरूपेण ज्ञानमावृतं कीदृशेनानलेन दुष्पूरेण दुःखेन पूरणं यस्य सः । अत एव 'जितं सर्वं जिते रस' इति वचनम् । कामस्यैव वा विशेषम् ॥३९॥

हे कौन्तेय, मेरे उपदेश के अधिकारी [illegible] अंश के कारण स्व स्वरूप को जानने वाले ज्ञानी को भी यह काम आवृत करता है । उदर में स्थित रस पचाने वाले अनल (अग्नि) के द्वारा भी काम की वृद्धि होती है । इस अग्नि को दुष्पूर कहा गया है । इसका आशय है दुःख से ही पूर्ण किया जाता है । इसीलिये कहा गया है कि रस के जीतने पर सब कुछ जीत लिया जाता है । अथवा यह काम का ही विशेष है ॥३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

स कामः कुत्र तिष्ठतीति जिज्ञासायामाह । इन्द्रियाणीति ।

इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि मनोऽन्तःकरणं बुद्धिश्चास्य कामस्याधिष्ठानं स्थानमुच्यते कथ्यते । एतैः करणभूतैर्ज्ञानमावृत्य एष कामः देहिनं विशेषेण मोहयति । स्वयं तु मोहयत्येव पुनरेतैः स्वाश्रयभूतैः [illegible] हेतुत्वेन व्यज्यते ॥४०॥

सकाम की स्थिति बतलाते हैं ।

श्रोत्रादि इन्द्रियाँ, मन, अन्तःकरण, बुद्धि इस काम का अधिष्ठान है । इन कारणभूतों से ज्ञान का आवरण कर यह काम देही को मोहित करता है । स्वयं भी लोक का व्यामोहन करता ही है । अपने आश्रयभूतों के द्वारा [illegible] बनता है ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

एतैरंगभूतैः स मोहयति अतः एतन्निरोधेन जहीत्याह । तस्मादिति ।

यस्मादिन्द्रियैरयं मोहयति तस्मादादौ त्वं इन्द्रियाणि तद्विषयेभ्यो नियम्य स्ववशे स्थापयित्वा हे भरतर्षभ स्वाम्यिकजननसमर्थं [illegible]

शास्त्रीयं भक्तिरूपं ज्ञानं, विज्ञानं, स्वरूपानुभवस्तयोर्नाशकर्त्तारं, पाप्मानं पापरूपमेनमिदानीमपि मत्स्वरूपानुभवे विघ्नकर्त्तारं प्रजहि प्रकर्षेण जहि त्यज ॥४१॥

ऐसे इस प्रचण्ड काम को निरोध से नष्ट करना चाहिये।

सर्व प्रथम यह इन्द्रियों से ही मोह उत्पन्न करता है अतः पहले इन्द्रियों को इसके विषयों से नियमन करना चाहिये।

भरतर्षभ संबोधन नियमन सामर्थ्य को ध्वनन कराता है। यह ज्ञान विज्ञान का नाशक है। शास्त्रीय भक्ति रूप को ज्ञान और स्वरूपानुभव को विज्ञान कहा है। पापरूप काम को नष्ट करना ही उचित है क्योंकि यह मेरे स्वरूप में विघ्नकर्ता है ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

नन्विन्द्रियादीनां भगवत्स्वरूपादिविषयानुभावकानां नियमने किं फलमित्यत आह। इन्द्रियाणीति।

इन्द्रियाणि 'अक्षण्वतां फलमिति न्यायेन' भगवत्स्वरूपदर्शनादिविषयानुभावकत्वेन पराण्युत्कृष्टान्याहुः। भक्ता इति शेषः।

मनसोऽन्यत्र स्थितेन्द्रियैः संयुक्तं भगवत्स्वरूपं न फलरूपं मारणीयदैत्यादिभिरिवेतीन्द्रियेभ्यः परमुत्कृष्टं मन आहुः। मनोऽपि कामनाद्यशुद्धया बुद्ध्या हतं सत् फलं साधयत्यत आहुः। मनसस्तु सकाशाद् बुद्धिः परा उत्कृष्टेत्यर्थः। अत्रायं भावः।

भगवान् लौकिक देहेन्द्रियादिभिर्ननुभाव्यः किन्त्वविकृतालौकिकभावात्मकात्मस्वरूपेण अतः स आत्मैवोत्तम इति भावः ॥४२॥

इन्द्रियों के नियमन से लाभ ?

इन्द्रियाँ परा हैं अर्थात् श्रेष्ठ हैं क्योंकि 'अक्षण्वताम्' श्लोक में भगवत्स्वरूप दर्शनादि विषयों की अनुभावकता तथा इनकी उत्कृष्टता सिद्ध की है।

मन से अन्यत्र स्थित इन्द्रियों से संयुक्त भगवत्स्वरूप मारने योग्य दैत्यों की तरह से फल रूप नहीं है। अतः इन्द्रियों से उत्कृष्ट मन है, मन भी कामना आदि अशुद्धि युक्त बुद्धि से नष्ट हो जाता है। फल की साधना नहीं करता। अतः कहा है कि मन से उत्कृष्ट बुद्धि है।

भाव यह है कि भगवान् लौकिक इन्द्रियों द्वारा अनुभाव्य नहीं, किन्तु अविकृत अलौकिक भावात्मक स्वरूप से ही आत्मा उत्तम है ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

यत आत्मा उत्तमस्तस्मात्तमुत्तमं ज्ञात्वा लौकिकं कामं त्यजेत्। तेन फलसिद्धिरित्याहुः। एवमिति।

एवं मदुक्तप्रकारेण बुद्धेः परम् आत्मानं परमुत्कृष्टं बुद्ध्वा आत्मना अविकृतस्वरूपेणात्मानं अविकृतस्वरूपं मनः संस्तभ्य समाधाय स्ववशीकृत्य।

हे महाबाहो, तन्निराकरणसमर्थ, कामरूपं शत्रुं एवं भावनाशकं दुरासदं एवं भूतात्मस्वरूपज्ञानातिरिक्ताज्ञाप्यं जहि त्यजेत्यर्थः ॥४३॥

कृतानां कर्मणां योगो यथा संभवतीश्वरे।
श्रीकृष्णेन तथा चायं कर्मयोगो निरूपितः ॥

इति श्रीभगवद्गीता टीकायां गीतामृततरंगिण्यां तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

आत्मा की उत्तमता जानकर लौकिक काम परित्याग करना ही उचित है, क्योंकि इसी से फलसिद्धि होती है। मेरे कहे प्रकार से आत्मा को बुद्धि से भी उत्कृष्ट मानना चाहिये। अविकृत स्वरूप आत्मा से आत्मा को जानकर और

अविकृत स्वरूप मन का समाधान करके हे महाबाहु, काम रूप शत्रु का नाश कर ॥४३॥

कृत कर्मों का योग जैसे ईश्वर में संभावित है उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने कर्मयोग का निरूपण किया है ।

इति श्रीभगवद्गीता के गीतामृत तरंगिणी की 'श्रीधरी' हिन्दी टीका का तीसरा अध्याय ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

चतुर्थ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

कर्मसंन्यासयोगस्य स्वस्मिन् योगो यथा भवेत् ।
तदर्थं कृपया कृष्णः कौन्तेयं प्रत्युवाच ह ॥१॥

कर्म संन्यासनिरूपणप्रश्नोद्गमार्थं पूर्वानुवाद माह । इममिति त्रयेण ।

अहं इमं योगं पूर्वोक्तं अव्ययं सफलं मत्संबंधजनकत्वात् । विवस्वते प्रोक्तवान् । लोकानुग्रहार्थं सोऽपि लोक एतत्प्राकट्यार्थं मनवे प्राह,मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

कर्म संन्यास योग का अपने में योग का प्रकार जिससे हो उस तत्त्व को श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा ।

कर्म संन्यास निरूपण के प्रश्न उत्थान के लिये पूर्वानुवाद का कथन है, 'इमम्' इत्यादि तीन श्लोकों से ।

मैंने इस सफल योग को विवस्वान् से कहा । उसने भी लोकोपकार के हेतु प्रकट करने की इच्छा से मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु[1] से कहा ॥१॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

---

[1] इक्ष्वाकु मनु का ज्येष्ठ पुत्र था ।

एवं परंपराप्राप्तं मत्परंपरयाऽऽप्तमिमं योगं राजर्षयः राज्यादिकं परित्यज्य मदर्थैकप्रयोजनवन्तो विदुः ।

ननु परंपरागतं चेदिदानीं केनापि कथं न ज्ञायत इत्याशंक्याहुः । स कालेनेति ।

स योगो महता कालेन प्रमाणादिनिरासकेन महता मदिच्छा रूपेण तद्व्यवधानादवतारदशायां दर्शकाभावान्नष्टः ।

परंतपेति संबोधनेन तवोत्कृष्टतापसंक्लेशेनाहं दर्शयामिति ज्ञापितम् ।।२।।

इस प्रकार मेरी परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने राज्यादिकों का परित्याग करके मुझमें ही एकतान होकर इसे समझा ।

वहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि यह योग परम्परा द्वारा ही चला आता है तो इस समय उसे कोई क्यों नहीं जानता ।

इसके उत्तर में कहा है कि वह योग प्रमाणादि निरासक काल के द्वारा मेरी इच्छा से व्यवधान आ जाने के कारण अवतार दशा में दर्शक के अभाव में नष्ट हो गया था ।

परंतप संबोधन से यह व्यक्त किया है कि तेरे उत्कृष्ट ताप संक्लेश से मैं तुझे दिखलाऊँगा ।।२।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।३।।

स एवं पुरातनो योगोऽयमिति प्रत्यक्षं मत्संबंधजनकस्ते तुभ्यं प्रोक्तः प्रकर्षेण मत्प्रीत्यात्मकफलयुक्त उक्तः ।

ननु योग एव फलसाधकश्चेद्भक्तिरस्मदादिभिः किमर्थं कर्तव्येत्याशंक्याह । भक्तोऽसीति ।

त्वं भक्तोऽसि सखा चासीति मे मदीयं रहस्यं एतदुत्तमं कर्मयोगादुत्तमं हीति निश्चयेन ।।३।।

यह पुरातन योग जो प्रत्यक्ष मेरे सम्बन्ध का जनक है, तुझ से कहा । अथवा प्रकर्ष पूर्वक मेरी प्रीति रूप फल युक्त कहा ।

यदि योग ही फल साधक है तो हम जैसे भक्ति क्यों करें ?

अतः कहा है कि अर्जुन तू भक्त है और सखा है । मेरा रहस्य उत्तम है । कर्मयोग से भी उत्तम है, यह निश्चय समझ ।।३।।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४।।

एवं श्रुत्वाऽर्जुनो भगवतोऽलौकिकस्वरूपत्वाद्विवस्वतो लौकिकत्वात् किमर्थं भक्तिं विहाय कर्मयोगं भगवानुक्तवानिति जिज्ञासया पृच्छति । अपरमिति ।

भवतो जन्म प्राकट्यमपरं न विद्यते परमुत्कृष्टं पूर्वं वा यस्मात्तादृशं । विवस्वतो जन्म परमुत्कृष्ट पश्चाज्जात वा इतिहेतोस्त्वमादौ तस्मै योगं कथं किमभिप्रायेण प्रोक्तवानेतदहं विजानीयां जानामि तथा वदेति भावः ।।४।।

यह सुनकर अर्जुन ने प्रश्न किया कि आप तो अलौकिक हैं । विवस्वान् लौकिक है । तब भक्ति का परित्याग कर आपने कर्मयोग किस हेतु कहा ?

आपका जन्म प्राकट्य अ+पर है अर्थात् सबसे पहले है और विवस्वान् का जन्म बाद में हुआ है अतः आदि में किस हेतु उससे योग कहा, इसे मैं जिस प्रकार जान सकूं, कहिये ।।४।।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।५।।

अत्रोत्तरमाह भगवान् । बहूनीति ।

मे जन्मानि बहूनि सन्ति कीदृशानि अव्यतीतानि नित्यानीत्यर्थः । हे अर्जुन, तव च जन्मानि बहूनि व्यतीतानि तानि सर्वाणि तव जन्मान्यहं वेद जानामि यतो यदर्थं यत्रयत्रोत्पादितोऽसि । हे परंतप उत्कृष्ट तपोबलयुक्त तानि मदीयानि त्वं न वेत्थ । न जानासि ।

परंतपेति संबोधनेन तपोबलेन न भगवान् ज्ञायते किन्तु तत्कृपयैवेति भावः ॥५॥

भगवान् ने उत्तर दिया ।

मेरे जन्म अव्यतीतानि = नित्य हैं । तेरे जन्म बहुत से व्यतीत हैं । उन तेरे सम्पूर्ण जन्मों को मैं जानता हूं कि तू कहां-कहां किस लिये उत्पन्न किया गया है । हे उत्कृष्ट तपोबल युक्त, मेरे जन्मों को तू नहीं जानता ।

यहां परंतप विशेषण का भाव यह है कि तपोबल से भगवान् को नहीं जाना जा सकता । भगवान् को समझने के लिये उनकी कृपा चाहिये ॥५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

ज्ञानार्थमेवाह अजोऽपीति ।

अहं भूतानामव्ययात्माऽपि सन् विनाशरहितात्मरूपः सन्नपि ईश्वरोऽपि सन् सर्वकरणसमर्थोऽपि सन् स्वां प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकामधिष्ठाय अजजीवरूपेण संभवामि । आत्ममायया अन्तरंगया अजीवरूपेण अव्ययात्मा लीलायोग्यदेहेन संभवामि ।

अत्रायं भावः । यत्र धर्मरक्षार्थमाविर्भवामि तत्सामयिकजीवेषु कर्मयोगादिजीवेषु लीलार्थं प्रकटीकृतस्वरूपेण रसात्मकभक्तिमेव कथयामि ॥६॥

ज्ञानार्थ ही कहा है । मैं भूतों की विनाशरहित आत्मा रूप होकर, सब कुछ करने की सामर्थ्य रखते हुए भी अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का आश्रय लेकर अजीव रूप से उत्पन्न होता हूं । अन्तरंग आत्ममाया से निर्जीव रूप से अव्ययात्मा लीला योग्य देह से उत्पन्न होता हूं ।

भाव यह है कि जहां धर्म की रक्षा के लिये प्रकट होता हूं वहां कर्मयोगादि जीवों में लीलार्थ प्रकट स्वरूप से रसात्मक भक्ति को कहता हूं ॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

एतदेव प्रकटयति यदायदेति ।

हे भारत, यदा यदा धर्मस्य मद्भक्त्यादिरूपस्य ग्लानिः संकोचो भवति । अधर्मस्य ज्ञानादिनाशकस्याभ्युत्थानमुत्पत्तिर्भवति । हीति निश्चयेन । तदा आत्मानं लीलोपयोग्यां जीवान् ज्ञानोपयोग्यांश्चाहं सृजामि ।

भारतेति संबोधनाच्चेदानीं धर्मरक्षार्थं त्वं सृष्टोऽसीति ज्ञाप्यते ।

आत्मानमित्यत्रैकवचनं मुख्यात्माभिप्रायेण वा ॥७॥

इसे प्रकट कहा है । हे भारत ! जब-जब मेरी भक्त्यादिरूप धर्म की ग्लानि = संकोच होता है, अधर्म = ज्ञानादि नाशक की उत्पत्ति होती है, तब लीलापयोगी जीवों को ज्ञानोपयोग्य बनाता हूं ।

भारत संबोधन से यह व्यक्त है कि इस समय भी धर्म रक्षार्थ तू उत्पन्न हुआ है ।

'आत्मानम्' में एक वचन मुख्यात्मा के अभिप्राय से है ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

एवं धर्मार्थं जीवान् सृष्ट्वा तेषां रक्षणार्थं चाहं प्रकटो भवामीत्याहुः । परित्राणायेति ।

साधूनां भक्तानां परित्राणाय दुष्कृतां धर्मप्रतिपक्षिणां नाशाय धर्मसंस्थापनाय ज्ञानकर्माऽऽश्रमादिरूपस्य सम्यक्प्रकारेण स्थापनाय युगे युगे संभवामीति । सम्यक् प्रकारेण भवामि प्रकटो भवामि न जीववद्भवामि ॥८॥

इस प्रकार धर्मार्थ जीवों को रचकर उनके रक्षार्थ मैं प्रकट होता हूं । परित्राणाय आदि से इसे ही बतलाया है ।

भक्तों के परित्राण के लिये, धर्म प्रतिपक्षियों के नाश के लिये, धर्म संस्थापन के लिये, ज्ञान-कर्म-आश्रमादि रूप की सम्यक् प्रकार से स्थापना के लिये मैं युग-युग में उत्पन्न होता हूं, सम्यक् प्रकार से प्रकट होता हूं । जीववत् नहीं होता हूं ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

तदेव विवृण्वन्ति जन्मकर्मचेति ।

मे जन्म प्राकट्यं कर्मक्रियादिव्यं क्रीडात्मकम् । अहं लीलार्थं प्रकटो भवामीत्यर्थः । लीलायां सेवार्थसृष्टदेहेन सेवां कृत्वा तदसामर्थ्ये देहं त्यक्त्वा हे अर्जुन, पुनर्जन्म लौकिकं पूर्ववन्नैति न प्राप्नोति । मामेति मां प्राप्नोति । प्रकर्षेणाप्नोति अलौकिकदेहेन लीलायामिति भावः । अतएव मामित्युक्तं न तु मत्पदं मद्भावं वा एतादृशस्य दुर्लभत्वादस इत्येकवचनमुक्तम् ॥९॥

मेरा जन्म-कर्म दिव्य क्रीडात्मक है । मैं लीला के लिये प्रकट होता हूं । लीला में कालिय-दमनादि रूप कर्मों से साधुओं की (भक्तों की) रक्षा होती है । मेरा प्राकट्य क्रीडार्थ है, इसे जो जानता है वह तत्त्व से देह त्यागकर लीला में सेवार्थ रचित देह से सेवा करके उसके असामर्थ्य में देह त्यागकर हे अर्जुन ! लौकिक पुनर्जन्म को वह प्राप्त नहीं करता । वह मुझको प्राप्त करता है । अलौकिक देह से लीला में प्राप्त होता है । इसीलिये 'माम्' पद कहा है 'मत्पद' नहीं । इसीलिये 'स' एक वचन कहा है ॥९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

एवं भक्तानां स्वप्राप्तिं स्वप्राकट्यस्वरूपज्ञानेनोक्त्वा । ज्ञानेन द्वितीयायां स्वप्राप्तिस्वरूपमाहुः वीतरागेति ।

बहवो ज्ञानतपसा ज्ञानयुक्तेन तपसा पूताः सन्तोमामुपाश्रिताः । उप समीपे आगताः । आश्रयणमात्रमेव कृतवन्तो न तु सेवादिकं तादृशा मन्मया मद्रूपं सर्वत्र ज्ञानरूपेण पश्यन्तस्तत्रैव लीना भूत्वा आगताः प्राप्तजन्मानो मद्भावं मोक्षं प्राप्नुवन्ति । कीदृशा वीतराग, भयक्रोधाज्ञानप्रतिपक्षरहिताः ॥१०॥

इस प्रकार भक्तों को अपनी प्राप्ति स्वप्राकट्यरूप ज्ञान से कहकर ज्ञान से स्वप्राप्ति स्वरूप कहते हैं—'वीतराग' ।

ज्ञान तपस्या से पवित्र होकर मेरे समीप आते हैं । आश्रयमात्र द्वारा ही मेरे समीप आये, सेवा करके नहीं । मेरे रूप को सर्वत्र ज्ञानरूप देखकर, उसमें ही लीन होकर जन्म प्राप्त कर मद्भाव=मोक्ष प्राप्त करते हैं । उस समय वे ज्ञान के पात्र राग-भय-क्रोध से रहित होते हैं ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

ननु स्वसंगता एवैके लीलायां सम्बन्धं प्राप्नुवन्ति एके मुक्तिं तत्र किं कारणमित्याशंक्याहुः ये यथा मामिति ।

हे पार्थ, ये मां यथा येन प्रकारेण यदिच्छया वा प्रपद्यन्ते प्रपन्ना भवन्ति अहं तांस्तथैव भजामि । तत्फलरूपेण वशो भवामि । अत्रायमर्थः । यो तु साक्षान्मत्स्वरूपार्थं च भक्तिज्ञानमार्गावुक्तौ तत्र यस्योत्तमत्वज्ञानेन यत्र रुचिः स्यात्तस्य तददाने तन्मनोरथो न स्यात् । दुःखं स्यात्तदा ममात्मत्वं भज्येताऽतस्तथा करोमि ।

इत्युक्त्वा मर्यादामार्गीय ज्ञानोपयोग्यजीवानामपि स्नेहभजने पुष्टिमर्यादायां मत्प्राप्तिरूपं फलं ददामीति व्यज्यते ।

पार्थेति संबोधनेन मूलतो भक्तेऽपि त्वय्येवं प्रश्नयोग्ये त्वत्प्रश्नानुसारेणोत्तरं प्रयच्छामीति त्वयैवानुभूयत इति ध्वन्यते । किं च । ये मनुष्या मम वर्त्म मदुक्तमार्गं पुष्टिमार्गमनुवर्तन्ते मदुक्तप्रकारेण अनु पश्चाद्वर्तन्ते तान् सर्वप्रकारैरहं भजामि व्रजरीत्येति भावः ॥११॥

अर्जुन ने शंका की कि तुम्हारी संगति करके एक व्यक्ति लीला में सम्बन्ध प्राप्त करते हैं, दूसरे मुक्ति, इसमें कारण क्या है ? अतः कहा है 'ये यथा' ।

हे पार्थ, मुझे जो जिस प्रकार से, जिस इच्छा से प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें फल रूप से मैं वश में हो जाता हूँ । इसका आशय यह है कि जो दोनों प्रकार के मार्ग (भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग) बतलाये हैं उनमें उत्तमोत्तम ज्ञान से जिसमें रुचि हो और मैं उसे पूर्ण न करूँ तब उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होगा । उसे दुःख मिलने से मेरे आत्मीयत्व में भी बाधा पड़ेगी । अतः मैं वैसा ही करता हूँ ।

श्लोक में प्रारम्भ में 'ये' पद रखा गया है, इसका भाव यह है कि मर्यादामार्गीय ज्ञानोपयोग्य जीव भी स्नेह पूर्वक मेरा भजन करते हैं तो उन्हें पुष्टि मर्यादा में मत्प्राप्ति रूप फल मैं दे देता हूँ ।

पार्थ पद भी साभिप्राय है । अर्जुन भक्त है, उसका प्रश्न करना उचित है । अतः तेरे प्रश्नों के अनुसार जो उत्तर देता हूँ उसका अनुभव तुझे ही होगा । जो मनुष्य मेरे उक्त मार्ग अर्थात् पुष्टिमार्ग का अनुवर्तन करते हैं, मेरे कथन का अनुसरण करते हैं, उन्हें मैं सर्व प्रकार से वैसे ही भजता हूँ जैसे व्रजवासियों को ॥११॥

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

नन्वेवं चेत्तदा कथं न सर्वे त्वामेव सेवन्त इत्याशंक्याहुः कांक्षन्त इति ।

इह अस्मिन्नेव जन्मनि सिद्धिं कांक्षन्तो ये वांछन्ति तादृशाः सन्तः कर्मणां देवताः कर्माधिष्ठातार इन्द्रादयस्तान् यजन्ते । यतः क्षिप्रं शीघ्रं मानुषे लोके अस्मिन्नेव जन्मनि कर्मजा सिद्धिर्भवति । न मत्प्राप्तिः ।

हीति युक्तत्वाय । तथा चायमर्थः । पुरुषोत्तमसंबन्धो न लौकिक देह प्राप्यः किन्त्वलौकिकस्वरूपप्राप्यः । तत्स्वरूपं च लौकिकदेहेन सेवायां क्रियमाणायां प्रेमोत्पत्त्या परीक्षासिद्ध्यनन्तरं तापे जाते तदनुभवार्थत्यागानन्तरमेतद्देहनिवृत्त्यनन्तरं भवति । तत्रापि परीक्षासिद्धौ परमतापे सति तदनुभवः स्यात् । सोऽपि क्लेशानन्दानुभवात्मकः । एतत्सर्वं व्रजे प्रसिद्धं कालीय अन्तर्गत भगवदन्तर्ध्यानं पुनः प्राकट्यरमणवनगमन श्रीमदुद्धवप्रसङ्गादिभिः । अन्यदेवानां तु जीववदंशरूपत्वादत्रैव लौकिकदेहेन लौकिकफलसिद्ध्युक्तौ तज्ज्ञापनाय हीति ॥१२॥

यदि ऐसा ही है तो सब लोग आपका ही भजन क्यों नहीं करते ? अतः कहते हैं 'कांक्षन्तः' ।

इस जन्म में ही सिद्धि की चाहना वाले कर्म के अधिष्ठाता इन्द्रादि देवों की आराधना करते हैं । उन्हें मनुष्यलोक में कर्मजा सिद्धि तो मिल जाती है किन्तु मेरी प्राप्ति नहीं होती ।

भाव यह है कि पुरुषोत्तम का सम्बन्ध लौकिक देह द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता । यह तो अलौकिक स्वरूप द्वारा ही प्राप्य है । अलौकिक स्वरूप उपलब्धि का मार्ग यह है, लौकिक देह से सेवा करते हुए प्रेम उत्पन्न है, पुनः परीक्षा सिद्धि के पश्चात् ताप होता है । इसके अनुभवार्थ का त्यागकर इस देह निवृत्ति के अनन्तर अलौकिक स्वरूप उपलब्ध होता है । परीक्षा सिद्धि होने पर परम ताप होता है और फिर उसका अनुभव होता है । यह अनुभव भी क्लेश आनन्द का मिश्रण रूप होता है । यह सब व्रज में देखा गया है । कालियदह में, भगवान् के अन्तर्धान के पुनः प्राकट्य में रमणलीला, वनगमनलीला, उद्धव गोपी संवाद आदि में । अन्य देवों को जीवों की भाँति ही अंश रूप होने के कारण मनुष्यलोक में कृत कर्म की सिद्धि हो जाती है । अतः फलाभिलाषी जन इसमें शीघ्र प्रवृत्त होते हैं । फलाभिलाषी मेरे भजन में प्रवृत्त नहीं होते । इस प्रवृत्ति में उनके लक्ष्य की सिद्धि भी हो जाती है । देवगण मेरे

स्वरूप हैं । लौकिक देह से उन्हें लौकिक फल सिद्धि युक्त ही है, अतः यहाँ इसके ज्ञापन के लिये श्लोक में 'हि' पद रखा गया है ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥१३॥

ननु कर्मसिद्धिरपि त्वां विना कथं भवतीत्याशंक्याह । चातुर्वर्ण्यमिति ।

चातुर्वर्ण्यं वर्णचतुष्टयं गुणकर्मविभागशः । गुणकर्मविभागैः सत्त्वरजस्तमसां यानि कर्माणि तेषां विभागैर्मया सृष्टमतस्तस्य चातुर्वर्ण्यस्य कर्तारमव्ययमविनाशिनं ब्रह्मरूपमकर्तारं रसनार्थस्थं रसपरवशं मां तस्य चातुर्वर्ण्यस्य कर्तारमपि विद्धि । इच्छया अंशैः कर्ता न तु साक्षात्स्वयमित्यपि शब्देन बोध्यते । अतो मदंशसंबन्धेन तत्र सिद्धिर्भवतीति भावः ॥१३॥

कर्मसिद्धि भी भगवान् के बिना कैसे होती है, इस आशंका से कहा गया है 'चातुर्वर्ण्यम्' ।

चारों वर्ण गुण कर्म विभागों से मैंने ही बनाये हैं । सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के जो कर्म हैं उनके विभाग से मैंने सृष्टि की है । मैं अविनाशी हूँ, ब्रह्मरूप हूँ, अकर्ता हूँ, रस परवश हूँ, ऐसा भी समझना चाहिये । इच्छा द्वारा अंशों से कर्ता हूँ, साक्षात् नहीं, यह ध्वनि 'अपि' शब्द से निःसृत है । अतः मदंश सम्बन्ध से ही सिद्धि होती है यह भाव है ॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

नन्वेवं विद्वांसः किमिति कर्म कुर्वन्ति तत्राह । न मामिति ।

मां कर्माणि न लिम्पन्ति वशे न कुर्वन्ति । मे मम कर्मफले यज्ञादौ इन्द्रियादिवत् स्पृहा इच्छा न । इति=अनेन प्रकारेण मां योऽभितो जानाति स फलभोगैर्न बध्यते ॥१४॥

प्रश्न यह होता है कि विद्वान् कर्म क्यों करते हैं ? अतः कहा है 'न माम्' ।

मुझे कर्म अपने वश में नहीं करते और न मेरे यज्ञादि फल में ही इन्द्रियों की तरह इच्छा ही होती है । इस प्रकार जो मुझे जानता है वह फल भोगों से बद्ध नहीं होता ॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

पूर्वैर्मुमुक्षुभिरपि विद्वद्भिरप्येवं मत्स्वरूपं ज्ञात्वा कर्मकृत मदाज्ञारूपत्वात् कृतमिति भावः । तैर्मदाज्ञया कृतं एवमपि पूर्वाध्यायोक्तप्रकारेण मदाज्ञयैव कुर्वित्याह एवं ज्ञात्वेति । तस्मादेवं बन्धकाभावादेव पूर्वैर्मुमुक्षुभिः कृतं त्वं मदाज्ञारूपत्वेन कर्म कुरु । कीदृशं पूर्वतरं परंपरया मुक्तैरपि मुमुक्षुदशायां कृतम् ॥१५॥

मुमुक्षुओं ने भी पहले मेरे स्वरूप को जानकर मेरे आज्ञारूप कर्म को किया था । उन्होंने मेरी आज्ञा का पालन किया । तू भी मेरी आज्ञा का पालन कर । (जैसा कि पूर्वाध्याय में कहा है ।) भगवान् का कथन है कि पूर्व परंपरा से समागत कर्म को करना ही उचित है और उसमें कोई बन्धक भी नहीं है ॥१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

ननु लौकिकफलसाधकं कर्मरूपमेवेति चेत्तत्राह । किं कर्मेति ।

किं कर्म कीदृशं कर्म कर्त्तव्यम् । अकर्म किं । अकर्म कीदृशं अकर्त्तव्यम् । इत्यत्र एतज्ज्ञाने कवयोऽपि शब्दार्थज्ञातारोऽपि मोहिता मोहं भ्रमं प्राप्ताः । तत्तस्मात्कारणात्ते कर्म कर्त्तव्यं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण संदेहाऽभावपूर्वकं कथयामीत्यर्थः । यत्कर्म ज्ञात्वा अशुभात्कर्मणो लौकिकफलसाधकात् मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसि ॥१६॥

लौकिक फल साधक कर्म ही है अतः कहा है 'किं कर्म'।

कैसा कर्म करना चाहिये, अकर्म का त्याग कैसे करना चाहिये, इस विषय में शब्दार्थ ज्ञाता भी भ्रम को प्राप्त हो जाते हैं। अतः तुझे मैं कर्त्तव्य कर्म का निश्चय पूर्वक कथन करूँगा, जिस कर्म को जानकर लौकिक फल साधक अकर्म से मुक्त हो जायगा ॥१६॥

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

तदेवाह। कर्मण इति। हीति निश्चयेन कर्मणः कर्त्तव्यस्य स्वरूपं बोद्धव्यं ज्ञातव्यं ततो ज्ञात्वा कर्त्तव्यमित्यर्थः। मत्स्वरूपज्ञानार्थं विकर्माकर्मणोः स्वरूपं त्यागार्थं ज्ञातव्यमित्याह। च पुनः विकर्मणो निषिद्धकर्मणः संसारफलसाधकस्य वा तस्य स्वरूपं तथैव। च पुनः अकर्मणः अकर्त्तव्यस्य आसुरस्य स्वरूपं बोद्धव्यम्। कर्मणो गतिः त्रयाणां कर्त्तव्यस्य पर्यवसानफलाप्तिरूपा गहना दुर्विज्ञेयेत्यर्थः ॥१७॥

कर्त्तव्य कर्म का स्वरूप जानकर करना चाहिये। मेरे स्वरूप के ज्ञान के लिये विकर्म अकर्म का स्वरूप त्यागने के उद्देश्य से जानना चाहिये। च कार से पुनः विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म का स्वरूप भी त्याग के उद्देश्य से जानना चाहिये और अकर्म अकर्त्तव्य आसुर स्वरूप को भी जानना चाहिये। तीनों कर्त्तव्यों की पर्यवसान फलाप्तिरूपा कर्मगति दुर्विज्ञेया है ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

दुर्विज्ञेयत्वाज्ज्ञानार्थं तत्स्वरूपमाह। कर्मणीति। यः कर्मणि अकर्म पश्येत्। कर्त्तव्ये अकर्त्तव्यं पश्येत्। मत्संबंधं विना मदाज्ञां विना विकर्मणि अकर्त्तव्यं पश्येत्। तथैव मदाज्ञया अकर्मणि अकर्त्तव्ये कर्मणि कर्त्तव्यं पश्येत्। एवं ज्ञात्वा यः कृत्स्नकर्मकर्त्ता मनुष्येषु स बुद्धिमान् भवेत्। स ज्ञानवान् स युक्तः। ममेति शेषः ॥१८॥

दुर्विज्ञेय होने पर भी उसके ज्ञान के लिये उसका स्वरूप बतलाते हैं।

जो कर्म में अकर्म देखे, कर्त्तव्य में अकर्त्तव्य देखे, मेरे सम्बन्ध के बिना, मेरी आज्ञा बिना, विकर्म में अकर्त्तव्य को देखे तथा मेरी आज्ञा से अकर्त्तव्य में कर्म–कर्त्तव्य को देखे। इस प्रकार ज्ञान करने वाला सम्पूर्ण कर्म करता हुआ भी मनुष्यों में बुद्धिमान होता है। वह ज्ञानवान् ही मुझे प्रिय है ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

किंच। यो निष्कामो मदाज्ञातश्चैव कर्म करोति स मद्भक्तानां च मे मत इत्याह यस्येति।

यस्य सर्वे समारंभाः सर्वे कर्मणां सम्यक् मदाज्ञातश्च आरंभाः कामसंकल्पवर्जिताः। कामः फलं संकल्पस्तदिच्छा एतदुभयरहिताः। तं ज्ञानाग्निना दग्धकर्माणं ज्ञानाग्निना दग्धानि कर्माणि यस्य तादृशं दग्धत्वादग्रे तद्भोगवृक्षोत्पत्ति बीजभावरहितं बुधा भक्ताः पण्डितं शास्त्रोक्तसर्वस्वरूपज्ञमाहुः वदन्ति ॥१९॥

जो निष्काम मेरी आज्ञा के कारण कर्म करते हैं वे मेरे भक्तों को तथा मुझे सम्मत हैं। जिसके समस्त आरम्भ काम-संकल्प से वर्जित होते हैं (काम=फल, संकल्प=इच्छा) उस ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्मवाले को पण्डित कहा जाता है। ज्ञानाग्नि से कर्म दग्ध हो जाने पर भोग रूप वृक्ष की उत्पत्ति भी नहीं होती ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

ननु फलेच्छारहितस्त्वस्मेवां विहाय किमिति कर्म करोतीत्याशंक्याह। त्यक्त्वेति यो नित्यतृप्तो मन्निष्ठया नित्यं सदा पूर्णः कर्मफलासंगं त्यक्त्वा कर्मफलेच्छासक्तिं त्यक्त्वा निराश्रयः कर्मजनिताऽदृष्टाद्याश्रयरहितः कर्मणि

मदाज्ञात्वेन अभिप्रवृत्तः सोऽपि नैव किंचित्करोति । मदाज्ञारूपत्वात्तस्य तत्कर्म मोक्षे स्वफलभोगादिना बन्धकं न भवतीत्यर्थः ॥२०॥

फलेच्छा रहित तुम्हारी सेवा को छोड़कर कर्म क्यों करें ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं--

जो मेरी निष्ठा के कारण नित्य तृप्त है वह कर्मफल-इच्छा-आसक्ति का त्याग कर कर्मजनित अदृष्टाश्रय से रहित होकर मेरी आज्ञा से कर्म में प्रवृत्त होकर भी कुछ नहीं करता । मेरी आज्ञारूपता के कारण उसका वह कर्म मोक्ष में स्वफल भोगादि द्वारा बन्धक नहीं होता ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

नन्वेवमपि कर्मादिमन्त्रेषूत्कृष्टबुद्ध्या कर्मबन्धकं भवेदेवेति चेत्तत्राह । निराशीरिति । निराशीः निस्पृहः । यतचित्तात्मा वशीकृतेन्द्रियदेहः । त्यक्तसर्वपरिग्रहः । त्यक्तः सर्वपरिग्रहः पशुपुत्रादिर्येन । सर्वशब्देन दैहिकोऽपि सुखरूप उच्यते । एतादृशः सन् केवलशारीरं कर्म कुर्वन् ब्राह्मणादिदेहत्वात् फलाभावेन मलमूत्रादिशारीरकर्मवद्भगवन्नामादिग्रहणं शुद्ध्यर्थं कुर्वन् किल्बिषं बन्धं नाप्नोति ॥२१॥

कर्मादि मंत्रों के उत्कृष्ट बुद्धि से कर्म बन्धक होते हैं, इसका उत्तर देते हैं—

निःस्पृह, यत चित्तात्मा, समस्त पशु पुत्रादि का परित्यागी, केवल शारीरिक कर्म करता हुआ ब्राह्मणादि देह होने के कारण फलाभाव से मलमूत्रादि शारीरिक कर्मों की भांति भगवान् के नामादि ग्रहण को शुद्धि के लिये करता हुआ बन्धन प्राप्त नहीं करता ॥२१॥

यदृच्छालाभ संतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥२२॥

अथ उत्कृष्ट ज्ञानेऽपि फलेच्छारहितं कर्म न बन्धकमित्याह यदृच्छेति । यदृच्छालाभसंतुष्टः भगवदिच्छालाभसंतुष्टः द्वन्द्वातीतः सुखदुःखसमः विमत्सरः दुष्टवचनजक्षोभादिरहितः सिद्धौ यथोक्तकर्मसिद्धौ फलोन्मुखत्वादानन्दरहितः । च पुनः असिद्धौ फलोन्मुखत्वाद् दुःखरहितः समः कर्म कृत्वापि तेन कर्मणा न निबद्ध्यते ॥२२॥

उत्कृष्ट ज्ञान में भी फलेच्छा रहित कर्म बन्धक नहीं होता, अतः कहा है— 'यदृच्छालाभसंतुष्टः' । भगवदिच्छा लाभ से संतुष्ट होकर सुख दुःख द्वन्द्व में समान रहनेवाला, दुष्टों के वचन से उत्पन्न क्षोभादि से रहित, कर्मसिद्धि में फल उन्मुख होने से आनन्द रहित, असिद्धि में फलोन्मुख होने से दुःख रहित सम कहलाता है । ऐसे कर्म करके भी उसमें निबद्ध न हो ॥२२॥

गतसंगस्य युक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

ननु कृतं कर्म फलभोगाभावे कथं नश्यतीत्याशंकायामाह । गतसंगस्येति । गतसंगस्य त्यक्तलौकिकपरिग्रहादेः मुक्तस्य कर्मफलैर्मुक्तस्य ज्ञानावस्थितः चेतसः ज्ञानेन भगवति सुस्थिरचित्तस्य यज्ञाय विष्णवे भगवदर्पणबुद्ध्या कर्म आचारतः कुर्वतः समग्रं फलसहितं कर्म प्रविलीयते ईश्वरप्राप्तिरूपे लीनं भवतीत्यर्थः । यद्वा यज्ञाय लोकशिक्षणार्थं मदाज्ञयाऽग्रे यज्ञप्रवृत्त्यर्थमाचरतः समग्रं सफलं कर्म प्रविलीयते । यज्ञप्रवृत्तावेव लीनं भवतीत्यर्थः ॥२३॥

यदि यह शंका करें कि किया हुआ कर्म फल भोग के अभाव में कैसे नष्ट होता है, तो समाधान किया है 'गत संगस्य' श्लोक से ।

जो लौकिक परिग्रह का त्याग कर देता है तथा कर्मफल से मुक्त हो जाता है, ज्ञान द्वारा भगवान् में सुस्थित चित्त होता है, विष्णु भगवान् को भगवदर्पण बुद्धि से आचार पूर्वक कर्म करते हुए फलसहित कर्म नष्ट हो जाता है । अर्थात् ईश्वर प्राप्ति रूप में लीन हो जाता है अथवा लोक शिक्षण के लिये मेरी आज्ञा से यज्ञ प्रवृत्त्यर्थ आचरण करता हुआ समग्र सकल कर्म का लय कर लेता है । यज्ञ प्रवृत्ति में ही लीन हो जाता है ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥२४॥

ननु ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्याह । कस्य कर्मणो ब्रह्मात्मकत्वमाह । ब्रह्मार्पणमिति ।

अर्पणम् । अर्प्यते हूयतेऽनेन तदर्पणं सामग्री स्रुकस्रुवादिकं ब्रह्म हविः घृतादिकं ब्रह्म । ब्रह्माग्नौ ब्रह्मात्मकोऽग्निस्तस्मिन्ब्रह्मणा कर्त्रा हुतम् । एवं प्रकारेण कर्म ब्रह्म अतः समाधिना समाध्यवस्थया तेन ब्रह्मात्मकेन कर्मणा ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्तव्यं । अतो ब्रह्मात्मकत्वात्तत्र लीयत इत्यर्थः । अतएव श्रुतिरपि सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्याह ॥२४॥

ब्रह्म ही ब्रह्म को प्राप्त होता है क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य से सब की ब्रह्मात्मकता कही है । अतः कौनसा कर्म ब्रह्मात्मक है इसे बतलाने के लिये कहा है—ब्रह्मार्पणम् ।

जिससे हवन किया जाय वह सामग्री अर्थात् स्रुक स्रुवादि घृतादि ब्रह्म हैं । ब्रह्मात्मक अग्नि में ब्रह्मण — कर्त्ता क द्वारा हवन किया गया कर्म ब्रह्म है । अतः समाधि अवस्था से ब्रह्मात्मक कर्म से ब्रह्म ही प्राप्त करने योग्य है । अतः ब्रह्मात्मकता होने से उसी में लीन हो जाता है । इसीलिये श्रुति में भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से सब की ब्रह्मात्मकता बतलाई गई है ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

ननु ब्रह्मात्मकत्वे सति ज्ञानाज्ञानकृतं कर्म कथं न ब्रह्मणि लीयतेऽग्निस्पर्शे दाहवदित्याशंक्य सजातीयप्रचयसंवलित एवाग्निर्दाहसमर्थो न तु विस्फुलिंगात्मक इति सर्वत्र ब्रह्मात्मकज्ञानाभावे तज्ज्ञानानुरूपमेवागाधजलाग्निमग्नस्य ग्रहणसामर्थ्यं पूर्णघटवत् फलं भवतीत्याह दैवमित्यादि षड्भिः । अपरे योगिनः यत्किञ्चित्स्वरूपज्ञानेन कर्मफलेच्छया कर्मकर्तारः । यज्ञं कर्म दैवमेव ज्ञात्वा पर्युपासते परितः सर्वभावेन कुर्वन्ति । तेषां लौकिकदेहेन साधनात्मक भगवत्सेवायां सुखरूपं फलं भवतीत्यर्थः । अपरे तत्त्वज्ञानानुसारिणो ब्रह्माग्नौ अग्निं ब्रह्मस्वरूपं ज्ञात्वा तस्मिन् यज्ञं यज्ञात्मकं विष्णुं यज्ञेनैव यज्ञात्मक विष्णुरूपेण हविषा उपजुह्वति । होमं कुर्वन्ति ॥२५॥

सब के ब्रह्मात्मक होने से ज्ञान तथा अज्ञान से किया कर्म ब्रह्म में लीन क्यों नहीं होता, जैसे अग्नि के स्पर्श से दाह होता है । इस आशंका से कहा है कि सजातीय समुदाय से संवलित ही अग्नि दाह समर्थ होता है, विस्फुलिंगात्मक नहीं । अतः सर्वत्र ब्रह्मात्मक ज्ञान के अभाव में उसके ज्ञान के अनुरूप ही अगाध जल में अग्निमग्न का ग्रहण सामर्थ्य पूर्ण घटवत् (रिक्त घटवत्) फल होता है, अतः कहा गया है 'दैवमित्यादि' छह श्लोकों में—

अन्य योगी थोड़े से स्वरूपज्ञान से कर्मफल की इच्छा से कर्म में प्रवृत्त होते हैं । यज्ञ कर्म को दैव जानकर उसकी चारों ओर से उपासना करते हैं । उनके लौकिक देह से साधनात्मक भाव सेवा में सुखरूप फल होता है । अन्य तत्त्वज्ञानानुसारी योगी ब्रह्माग्नि में अग्नि को ब्रह्म स्वरूप जानकर उसमें यज्ञात्मक विष्णु को यज्ञात्मक विष्णुरूप हविष्य से होम करते हैं ॥२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अन्ये योगिनः श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति । अयमर्थः योगेन मत्प्राप्तीच्छया प्राप्तिप्रतिबन्धकानीन्द्रियाणि निरोधात्मकक्लेशाग्नौ भस्मीकुर्वन्ति । अन्ये भक्तियुतयोगिनः शब्दादीन् विषयान् मत्कथाश्रवणादिरूपान् इन्द्रियाग्निषु भगवत्साक्षात्कारसाधकतयाऽऽत्मभावेनेन्द्रियेषु जुह्वति ॥२६॥

अन्य योगी इन्द्रियों को संयम की अग्नि में हवन करते हैं । भावार्थ यह है कि योग द्वारा मेरी प्राप्ति की इच्छा से मेरी प्राप्ति में प्रतिबन्धक इन्द्रियों को निरोधात्मक क्लेश की अग्नि में भस्म करते हैं । अन्य भक्तियुत योगी शब्दादि विषयों को मेरी कथा

श्रवणादि रूपों को इन्द्रिय अग्नि में भगवत्साक्षात्कार साधकता से अर्थात् आत्मभाव से इन्द्रियों में हवन करता है ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अपरे योगिनः सर्वाणि इन्द्रियाणकर्माणि इन्द्रियकृत्यानि । अकृत्वैव च पुनः प्राणकर्माणि पंचप्राणकृत्यानि क्षुत्पिपासादिना भोजनपानादीनकृत्वैव ज्ञानदीपिते ज्ञानेन मत्स्वरूपाप्तितापोन्मुखीकृते आत्मनो मत्प्राप्त्यर्थं यः संयमो नियमनं स एवाग्निः सर्वस्यापि स्वकरणरूपस्तस्मिन् जुह्वति ॥२७॥

अन्य योगीजन समस्त इन्द्रिय कृत्यों को न करके प्राणकर्मों को भोजन पानादि न कराकर ज्ञान द्वारा मेरे स्वरूप की प्राप्ति-ताप से उन्मुख होकर मेरी प्राप्ति के लिये संयम रूपी अग्नि में स्वकरणरूप में सब का हवन करते हैं ॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

द्रव्ययज्ञाः यज्ञनिश्चयद्रव्यदातारः । तपोयज्ञाः । साधनाद्यभावेन यज्ञजमत्प्रीत्युत्पादनार्थं तप एवं यज्ञबुद्ध्या कुर्वन्ति, योग यज्ञाः पूर्वोक्तवत् मत्प्रीत्यर्थं यज्ञबुद्ध्या अष्टांगयोगकर्तारः । अपरे तथा पूर्वोक्तप्रकारेण स्वाध्यायं वेदाध्ययनमेव यज्ञबुद्ध्या कर्तारः । न पुनः । ज्ञानमेव यज्ञत्वेन ज्ञातारः ते कीदृशाः । यतयः सर्व परित्यागिनः । पुनः कीदृशाः । संशितव्रताः सूक्ष्मीकृतकर्माणो भगवत्स्मरणमात्रैक पराः ॥२८॥

द्रव्य यज्ञ अर्थात् यज्ञ निश्चय द्रव्य दाता, तपोयज्ञ-साधनादि के अभाव में मेरी प्रीति उत्पादनार्थ तप को ही यज्ञबुद्धि से करते हैं । योगयज्ञ पूर्वोक्तवत् मेरी प्रीति हेतु यज्ञबुद्धि से अष्टाङ्ग योग कर्ता, अन्य योगी पूर्वोक्त प्रकार से स्वाध्याय वेदाध्ययन को ही यज्ञबुद्धि से करते हैं । ज्ञान को ही यज्ञ रूपी जानने वाले, सबका परित्याग करने वाले मात्र भगवत्स्मरण परायण हो जाते हैं ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपरे योगिनः अपानेऽधःस्थे प्राणं ऊर्ध्वस्थं पूरकविधिना जुह्वति । तथा अपरे रेचकविधिना अपानं प्राणे । कुंभक विधिना प्राणापानयोर्गतिनिरोधं कृत्वा प्राणायामपराः ईश्वरचिन्तननिष्ठा भवन्ति ॥२९॥

अन्य योगी अपान — नीचे स्थित प्राण को पूरक प्राणायाम की विधि से हवन करते हैं अर्थात् प्राण को ऊपर की ओर खींचते हैं । अन्य योगी रेचक विधि से अपान को प्राण में तथा कुंभक विधि से प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणायाम परायण हो ईश्वर चिन्तन में तत्पर होते हैं ॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अपरे योगिनो नियताहाराः नियमित भोजनाः । द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं च पूरयेत् । मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेदित्युक्तम् । तथाप्यन्तःकरणशुद्ध्यर्थं देहस्थितिमात्ररूपभगवत्प्रसादैकभोक्तारः प्राणान् लौकिकान् प्राणेष्वाधिदैविकेषु भगवदुपयोग्येषु जुह्वति । सर्वेऽप्येते सार्द्धपंचश्लोकोक्ताः यज्ञविदः यज्ञस्वरूपज्ञाः । यज्ञक्षपितकल्मषाः स्वस्वाधिकारकृत स्वयज्ञेन दूरीकृतं मत्स्मरणप्रतिबन्धकात्मकं कल्मषं यैस्ते दूरीकृतकल्मषा भवन्तीति शेषः ॥३०॥

अन्य योगी नियमित भोजन करनेवाले हैं । ऐसा लिखा भी है कि अन्न से दो भाग पूर्ण करे, एक जल से तथा चौथा भाग पवन पूरणार्थ छोड़े । तथापि अन्तःकरण शुद्धि के लिये देहस्थिति मात्ररूप भगवत्प्रसाद के भोक्ता लौकिक प्राणों को आधिदैविक प्राणों में, भगवदुपयोग्यों में हवन करते हैं । ये पूर्व साढ़े पाँच श्लोकों द्वारा कथित यज्ञस्वरूप के ज्ञाता अपने अपने अधिकार कृत यज्ञ से मेरे स्मरण के प्रतिबन्धक रूप कल्मष को दूर करने में समर्थ हो जाते हैं ॥३०॥

यज्ञशिष्टाऽमृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम् ।
नायं लोकोस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

एवं यज्ञैर्निष्कल्मषा भूत्वा मत्स्मरणादिना ब्रह्म प्राप्नुवन्तीत्याह। यज्ञशिष्टेति। यज्ञशिष्टाऽमृतभुजः यज्ञे शिष्टमवशिष्टं यदमृतं मत्स्मरणरूपं तद्भुजस्तद्भोगकर्त्तारः सनातनं ब्रह्म अक्षरात्मकं यान्ति प्राप्नुवन्ति। अत एव यस्य स्मृत्येत्यादिना भगवत्स्मरणेनैव कर्मादीनां पूर्णत्वम्। एवं यज्ञकर्तॄणामक्षरप्राप्तिमुक्ता। तदकर्तॄणां बाधकमाह। नायमिति। हे कुरुसत्तम, सत्कुलोत्पन्न! अयज्ञस्य मद्विभूतिरूपमदाज्ञादिरूपयज्ञरहितस्यायं लोको नास्ति। अस्मिन्नपि लोके। निंदितः सन् तदा अन्यः। अन्यः अक्षरात्मकः कुतः प्राप्य इति शेषः ॥३१॥

इस प्रकार यज्ञों से निष्कल्मष होकर मेरे स्मरण आदि से ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, अतः कहा है, 'यज्ञशिष्टा०'। यज्ञ अवशिष्ट अमृत है अर्थात् उसे मेरा स्मरणरूप समझनेवाले अक्षरात्मक सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। अतएव 'यस्य स्मृत्या च' इत्यादि श्लोक से भगवत्स्मरण से ही कर्मादि की पूर्णता कही गई है। यज्ञकर्त्ता को अक्षर प्राप्ति कहकर उसे न करने वाले को बाधकता बतलाते हैं 'नायम् इति'। हे कुरुसत्तम, सुन्दर कुल में उत्पन्न! मद्विभूतिरूप मदाज्ञादि रूप यज्ञ रहित को यह लोक नहीं है। इस लोक में निंदित होकर अन्य अक्षरात्मक कहाँ से प्राप्त होगा ॥३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

नन्वेवं बहुप्रकारक यज्ञस्वरूपोक्त्या मया किं कार्यमित्याशंक्याह एवमिति एवं बहुविधाः। पूर्वोक्तप्रकारेण बहुप्रकारा यज्ञाः मदंशकाः ब्रह्मणो वेदस्य मुखे वितताः निःसृताः तान् सर्वान् कर्मजान् एतत्क्रियोत्पन्नान् विद्धि जानीहि। एवं तान् ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे मत्प्राप्तिप्रतिबन्धैर्मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः। मया तव वेदाद्युक्तत्वाद्यज्ञादिकर्मसु आसक्त्यभावार्थमेवं बहुप्रकारका यज्ञा उक्ता इति भावः ॥३२॥

बहुत प्रकार के यज्ञस्वरूप उक्ति से मुझे क्या करना चाहिये? इसका समाधान किया है — 'एवं बहुविधाः'। पूर्वोक्त प्रकार से अनेक प्रकार के यज्ञ मेरे अंश वेद के मुख से निःसृत हैं। उन्हें पूर्वोक्त कर्म से उत्पन्न जानना चाहिये। इस प्रकार उनको जानकर मेरी प्राप्ति के प्रतिबन्धों से मुक्त हो जाओगे। यह भावार्थ है। मैंने तुमको वेदोक्त यज्ञादि कर्मों में आसक्ति के निराकरणार्थ ही बहुप्रकार के यज्ञ कहे हैं, यह भाव है ॥३२॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

ननु ममैतत्फलानभिलाषित्वादाज्ञया लोकसंग्रहार्थं कर्त्तव्यानां तेषां ज्ञानेन किं फलमित्यत आह। श्रेयानिति। हे परन्तप, ज्ञानयज्ञस्य ज्ञानाभावे भगवदीयस्य निषिद्धप्रकारेण स्वर्गादिफलकत्वेन क्रियमाणत्वस्यानुचितत्वात् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः ज्ञानात्मको ज्ञानेन वा यज्ञः श्रेयान् उत्तम इत्यर्थः। किं च। द्रव्यमयो यज्ञः पूर्णत्वाभावादपि नोत्तमो ज्ञानमयस्तु संपूर्णो भवतीत्याह सर्वमिति। हे पार्थ सर्वं कर्म ज्ञाने अखिलं पूर्णं परिसमाप्यते पूर्णं मत्समीपं भवतीत्यर्थः ॥३३॥

यदि यह शंका हो कि मैं तो फल की अभिलाषा नहीं रखता, अतः तुम्हारी आज्ञा से लोकसंग्रहार्थ कर्त्तव्यों के ज्ञान का प्रयोजन ही क्या? अतः कहा है कि 'श्रेयान्'। हे परन्तप, ज्ञान यज्ञ, ज्ञान के अभाव में भगवदीय निषिद्ध प्रकार से स्वर्गादि फल से क्रियमाण अनुचित है। द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है। द्रव्यमय यज्ञ पूर्णत्व के अभाव में भी उत्तम नहीं है। ज्ञानमय तो सम्पूर्ण होता है। अतः कहा है 'सर्वम्'। हे पार्थ सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त होता है। अर्थात् मेरे समीप होता है ॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

तज्ज्ञानं कथं स्यादित्यत आह । तद्विद्धीति । तज्ज्ञानं ज्ञानिनो मत्स्वरूपविदः प्रणिपातेन नम्रतया परिप्रश्नेन जिज्ञासुतया प्रश्नेन सेवया भगवद्बुद्ध्या ते तव । ज्ञानिनः मत्स्वरूपविदः तत्त्वदर्शिनः योग्यानामुपदेशदातारमहं प्रसन्नो भवामीति पश्यन्तो ज्ञानमुपदेक्ष्यन्ति ॥३४॥

यह ज्ञान कैसे हो, अतः कहा है—'तद्विद्धि' । यह ज्ञान मेरे स्वरूप को जानने वालों से, भगवद् बुद्धि से, नम्रता पूर्वक जिज्ञासु भाव से प्रश्न करने पर वे ज्ञानी, मेरे स्वरूप को जानने वाले, 'तत्त्वदर्शी अधिकारी व्यक्तियों को उपदेश देने से मैं प्रसन्न होता हूँ' यह समझ कर उन्हें ज्ञानोपदेश करते हैं ॥३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

एवमुपदिष्टज्ञानेन मोहो न भवत्येवेत्याह । यदिति । हे पाण्डव यत् उपदिष्टज्ञानात्मकं मत्स्वरूपं ज्ञात्वा पुनरेवं भूयः प्रश्नादिरूपं न यास्यसि न प्राप्स्यसि । अथो एतदनन्तरं मोहाभावानन्तरं येन ज्ञानेन भूतानि कारणरूपाणि जीवात्मकानि च अशेषेण जगद्रूपेण आत्मनि मयि आत्मरूपे मयि द्रक्ष्यसि ॥३५॥

इस प्रकार उपदिष्ट ज्ञान से मोह नहीं होता, अतः कहा है 'यज् ज्ञात्वा' । हे पाण्डव ! उपदिष्ट ज्ञानात्मक मेरे स्वरूप को जानकर पुनः इस प्रकार की शंका से [illegible] होगे । मोहाभाव के पश्चात् जिस ज्ञान से कारण रूप जीवात्माओं को सम्पूर्ण रूपेण आत्मरूप मुझ में देखोगे ॥३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

तथा चायं भावः । भगवताऽग्रे पुष्टिमार्गरीत्योपदेशेन स्वानुभवः कारणीयस्तदुपदेशयोग्यार्थं सर्वत्र भगवद्भावात्मकः ज्ञानरूपः संस्कारः कर्तव्यः स च साक्षात् स्वोपदेशेऽग्रे कार्यविलम्बः स्यादिति ज्ञानवाक्यानुसारेण स्वरूपप्राप्त्यर्थमुक्तस्तद्भोगं विना किं ज्ञानेन स्यादित्यत आह । अपीति । क्षत्रियाणां स्वयं धर्म एव अपि चेत् यदि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृद्रूपः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः पापकृन्मुख्योऽसि तथापि ज्ञानप्लवेनैव ज्ञानरूपोडुपेन तरण साधनेन सर्वं वृजिनं पापं सर्वं पापं सर्वपदेनार्णवरूपं संतरिष्यसि सम्यक् प्रकारेणानायासेन तरिष्यसि पापविनिर्मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः ॥३६॥

भाव यह है कि भगवान् आगे पुष्टिमार्ग की रीति से उपदेश द्वारा स्वानुभव करावेंगे । उस उपदेश की योग्यता के लिये सर्वत्र भगवद् भावात्मक ज्ञानरूप संस्कार करना चाहिये और वह साक्षात् अपने उपदेश से पहले करने पर कार्य में विलम्ब होगा । वह ज्ञान वाक्य के अनुसार स्वरूप प्राप्ति को उक्त-सा दिखलाई देता है । किन्तु उसके भोग के बिना ज्ञान से क्या हो ? अतः कहा है, 'अपि चेदसि' । क्षत्रियों का तो यह धर्म ही है । यदि सम्पूर्ण पापकर्त्ताओं में मुख्य होगे तथापि ज्ञानरूपी नौका से सम्पूर्ण पापरूपी समुद्र को अनायास ही तरोगे, पाप रहित हो जाओगे ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

पापस्यार्णवत्वोक्त्या ज्ञानस्य प्लवत्वोक्त्या च तस्यानल्पत्वादगाधत्वादस्याल्पत्वात्तन्मध्यपातित्वात् कदाचिन्मज्जनसंभावनापि स्यादित्यल्पस्वरूपस्य महद्वस्तु निराकरणसामर्थ्यं दृष्टान्तमाह यथैधांसीति । हे अर्जुन, यथा अग्निः काष्ठेभ्यः स्वल्पतरोऽपि समिद्धः सन् सम्यक् प्रकारेण संधुक्षितः सन् एधांसि काष्ठानि भस्मसात्कुरुते तथा ज्ञानाग्निः ज्ञानरूपोऽग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते भस्मरूपाण्यग्रेऽस्य फलभोगजननासमर्थानि कुरुते ॥३७॥

पाप को समुद्र और ज्ञान को नौका बतलाया गया है । समुद्र महान् है । अगाध है । नौका लघु है । उसके मध्य में है । अतः कभी उसका डूबना संभव है । अल्प वस्तु महद् वस्तु के निराकरण में समर्थ है, यह 'यथैधांसि' आदि कहकर दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है ।

हे अर्जुन, जिस प्रकार अग्नि काष्ठों से स्वल्प हो तब भी प्रज्वलित किया गया समस्त काष्ठों को भस्म करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है अर्थात् कर्मों को फलों के भोग दान में असमर्थ बना देती है ॥३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

एवं ज्ञानस्य प्रतिबन्धनिरासकत्वमुक्त्वा स्वप्रापकत्वमाह । न हीति । हीति निश्चयेन ज्ञानेन सदृशं इह साधनेषु पवित्रं न विद्यते । अतः योगसंसिद्धिः कर्मयोगादिभिः सम्यक् प्रकारेण सिद्धो मत्तोषार्थं मदाज्ञया फलानभिलाषेण कृतकर्मयोगः तत् मत्स्वरूपात्मकं ज्ञानं कालेन अलौकिकेन तज्ज्ञानदानार्थमाविर्भूतेन आत्मनि स्वयं स्वात्मस्वरूपेण विन्दति जानातीत्यर्थः ॥३८॥

ज्ञान के प्रतिबन्धक तत्त्वों को हटाकर 'न हि''''विन्दति' द्वारा अपनी प्राप्ति बतलाते हैं। यह निश्चय है कि अन्य समस्त साधनों में ज्ञान के समान अन्य कोई पवित्र साधन नहीं है। अतः कर्मयोगादि से अच्छी प्रकार सिद्ध होकर मेरी तुष्टि के लिये फल की अभिलाषा को छोड़कर किये गये कर्मयोग से सिद्ध 'मत्स्वरूपात्मकज्ञान', कालान्तर में ज्ञानदानार्थ आविर्भूत आत्मा में आत्मरूप से स्वयं को जानता है ॥३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

तत्कालज्ञानं सूक्ष्मत्वान्न भवतीति निरन्तरं तत्परः सन् जितेन्द्रियस्तिष्ठेत्तेन तत्प्राप्तिः स्यादित्याह श्रद्धावानिति ।

श्रद्धावान् श्रद्धायुक्तः पूर्वोक्तप्रकारकगुरुसेवादौ तत्परस्तन्निष्ठः गुरुनिष्ठो वा संयतेन्द्रियः वशीकृतेन्द्रियः निवृत्तविषयो यः स ज्ञानं लभते प्राप्नोति । ततो ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण शीघ्रमेव परां शान्तिं मद्भक्तिं अधिगच्छति प्राप्नोति ॥३९॥

कालज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है। उसे समझना कठिन है। अतः उसमें तत्पर होना चाहिये, तभी उसकी प्राप्ति हो सकती है। यह बात 'श्रद्धावान्' आदि कहकर बतलाई गई है।

श्रद्धावान् व्यक्ति पूर्वोक्त प्रकार से गुरुसेवा आदि में तत्पर हो गुरुनिष्ठ या ज्ञाननिष्ठ होकर इन्द्रियों को वश में कर तथा विषयों को छोड़ ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर ही मेरी भक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयाऽऽत्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अत्र मदुक्तौ संशयो न कर्त्तव्य इत्याह । संशयात्मा भविष्यति न वेति संदेहवान् अज्ञः मूर्खः अनात्मज्ञः अश्रद्दधानः गुरौ ज्ञानसाधनेषु च श्रद्धारहितो भूत्वा विनश्यति नष्टो भवति । चकारद्वयेन धर्मरहितः सन्तोषरहितश्च भवेदिति ज्ञाप्यते । किंच संशयात्मनः साधारणरीत्यापीह लोके परलोके च सुखं न स्यादित्याह नायमिति । संशयात्मनः संदेहवतः अयं लोकः पशुपुत्रादिरूपः न सिद्धो भवति । न परः । स्वर्गादिरूपसुखं ऐश्वर्यारोग्यादिरूपं न भवतीत्यर्थः ॥४०॥

इस विषय में मेरी उक्ति में संशय नहीं करना चाहिये। इसीलिये कहा है—'अज्ञश्च''''संशयात्मनः।'

संशयात्मा उत्पन्न होगा या नहीं, ऐसा संदेह करने वाला मूर्ख है। अनात्मज्ञ है। ज्ञानदाता गुरु में श्रद्धारहित होकर वह नष्ट हो जाता है। यहाँ दो चकार से धर्म रहित, सन्तोष रहित होता है यह ज्ञापित है। संशयात्मा को लोक-परलोक में भी सुख नहीं मिलता। इस लोक में पशु-पुत्रादि रूप तथा स्वर्गादि रूप सुख परलोक में प्राप्त नहीं होता। स्वर्गादि से ऐश्वर्य आरोग्यादि सुख का भी बोध समझना चाहिये ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

संदेहरहितस्य भोगलोकादिप्रतिबन्धो न भवेदित्याह योगसंन्यस्तेति । हे धनंजय, कर्माणि नियतफलभोगकारणरूपाणि योगसंन्यस्तकर्माणं भगवदात्मकयोगेन त्यक्तकर्मफलं ज्ञानसंछिन्नसंशयं ज्ञानेन वा संछिन्नः संशयो जीवस्वरूपादिरूपोऽस्य तमात्मवंतं स्वसेवार्थमात्मा भगवान् प्रकटीकृत इत्याह, आत्मस्वरूपज्ञं न निबध्नन्ति । न बन्धका भवन्तीत्यर्थः ॥४१॥

संदेह रहित को भोगलोकादि का प्रतिबन्ध न हो अतः अग्रिम श्लोक कहा है । 'योग......धनंजय' ।

हे धनंजय ! नियत फल भोग के कारण रूप-कर्म-भगवदात्मक योग से कर्म-फल त्यागनेवाले तथा ज्ञान द्वारा जीवस्वरूप संशय के नष्ट करनेवाले को—आत्मस्वरूप के जाननेवाले को ये कर्म बन्धक नहीं होते ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

यतः संशयात्मा न पश्यति । आत्मज्ञानवन्तं च कर्माणि न निबध्नन्ति तस्मादात्मज्ञानेन संशयं त्यजेदित्याह तस्मादिति । हे भारत । सत्कुलोत्पन्न ! संशयकरणायोग्य यस्मात् संशयेन नश्यति तस्मादात्मनः अज्ञानसंभूतं आत्मस्वरूपाज्ञानोत्पन्नं हृत्स्थं हृदिस्थं एनं प्रत्यक्षमनुभूयमानं मद्वचनेष्वविश्वासात्मकं संशयं ज्ञानासिना ज्ञानात्मकखड्गेन छित्वा योगं मदात्मकं मत्प्राप्त्यर्थं आतिष्ठ कुरु उत्तिष्ठ सावधानो भव ॥४२॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे [illegible] यत्नप्रशंसानाम चतुर्थोऽध्यायः ।

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां गीतामृततरंगिण्यां चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

संशयात्मा नहीं देखता है तथा आत्मज्ञानी को कर्म बन्धन में नहीं डालते । अतः आत्मज्ञान से संशय को त्यागना चाहिये । अतः कहा है—'तस्मात्.......भारत' ।

हे भारत । सत्कुल में उत्पन्न अथवा संशय करने के अयोग्य, क्योंकि संशय से ही नाश होता है । अतः आत्मा के स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न हृदय के पाप को जिनका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, उसे मेरे वचनों में जो अविश्वासात्मक संशय है, उसे ज्ञान रूप तलवार से काटकर मेरी प्राप्ति के लिये योगकर सावधान हो ।

श्रीभगवद्गीता की अमृत तरंगिणी टीका की श्रीवरी हिन्दी टीका का चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

पांचवां अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

संन्यासं कर्मयोगं च श्रीकृष्णोक्तं धनंजयः ।
श्रुत्वा संशयमापन्नः पुनः प्रश्नं चकारह ॥

अर्जुन उवाच । संन्यासमिति । हे कृष्ण सदानन्द । आनन्दैकदानयोग्य ! कर्मणां सन्यासं त्यागं 'न मां कर्माणी'त्यारभ्य कुत्रापि न निबध्यत' इत्यन्तं शंससि पुनर्योगमातिष्ठेत्यनेन योगं च शंससि । एतयोरुभयोर्मध्ये एकं सुनिश्चितं निर्धारितं ब्रूहि । च पुनरेतयोरुभयोः सकाशादेकमन्यद् यच्छ्रेयः श्रेयोरूपं भक्तिरूपं भवेत् तन्मे मम त्वदीयस्य सुनिश्चितं संशयरहितं ब्रूहि ॥१॥

श्रीकृष्ण के कहे हुए संन्यास और कर्मयोग को सुनकर भी अर्जुन के मन में संशय उत्पन्न हुआ, अतः उसने पुनः प्रश्न किया ।

अर्जुन ने कहा—संन्यासं कर्मणां कृष्ण……

हे कृष्ण ! सदानन्द स्वरूप, आनन्ददायिन् ! आपने कर्मों का त्याग 'न मां कर्माणि' से 'कुत्रापि न निबध्यते' श्लोक पर्यन्त बतलाया और योग की भी महिमा सुनाई । इन दोनों में से एक को निश्चय पूर्वक बतलाइए । इन दोनों में जो श्रेय रूप, भक्ति रूप हो, उसे संशय रहित बतलाइए ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

भगवानेतत्प्रश्नोत्तरमाह कृपया संन्यास इति । संन्यासः कर्मणां त्यागः कर्मयोगः कर्मानुष्ठानमेतावुभौ निःश्रेयसकरौ मोक्षोत्पादकौ तयोरपि कर्मसंन्यासात् केवलं कर्मत्यागात्, मदाज्ञया फलानभिलाषेण मदर्पणधिया कर्मयोगः कर्मयोगः कर्मानुष्ठानं विशिष्यते उत्तममित्यर्थः ॥२॥

श्रीकृष्ण ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा—कर्मों का त्याग और कर्मों का अनुष्ठान दोनों ही मोक्षप्रद हैं । इन दोनों में कर्म संन्यास (केवल कर्म त्याग) से, मेरी आज्ञा से (फल की अभिलाषा छोड़कर) मेरे लिये अर्पण की बुद्धि से किया गया कर्म का अनुष्ठान उत्तम है ॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

अथ श्रेयोरूपप्रश्नोत्तरमाह सर्वत्यागरूपं ज्ञेय इति । यः संन्यासी सर्वत्यागवान् सर्वं त्यक्त्वैतयोर्मध्ये नैकं कमपि द्वेष्टि न चैकं कमप्याकांक्षति स नित्यं ज्ञेयो ज्ञातुं योग्यः । मदीयत्वेनेति शेषः । हे महाबाहो ! सर्वकरणसमर्थ ! हि निश्चयेन निर्द्वन्द्वः कर्मसंन्यासयोगयोर्मदाज्ञातिरेकेण भिन्नज्ञानरहितो बन्धात् तत्फलजात्सुखं प्रमुच्यते । मोक्षे प्रकर्षो मदाज्ञाकरणेऽहं प्रसन्नो भवामीति भावः ॥३॥

श्रेय रूप प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो संन्यासी सब का परित्याग करता है, सबको त्यागकर इन दोनों में किसी एक से द्वेष नहीं करता और

न एक की अभिलाषा करता है, वह नित्य जानने योग्य है, क्योंकि वह मेरा है। हे महाबाहो! सब कुछ करने योग्य! निश्चय ही वह निर्द्वन्द्व होकर अर्थात् कर्म संन्यास और योग में, मेरी आज्ञा से, भिन्न ज्ञान रहित होकर बन्ध से अर्थात् फल से उत्पन्न सुख से मुक्त हो जाता है। मोक्ष में उत्तमता यह है कि मेरी आज्ञा होने से मैं प्रसन्न हो जाता हूँ, यह भाव है ॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

उभयोर्हेयोपादेयज्ञानिनो मत्स्वरूपाद्भिन्नज्ञानिनश्च मूर्खा इत्याह । सांख्ययोगाविति सांख्ययोगौ पृथक् भिन्न तयाऽनुष्ठेयमननुष्ठेयत्वेन मताविति बाला मूर्खाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । ज्ञानिन इत्यर्थः । अयं भावः सांख्ययोगौ मत्कुण्डलात्मकौ तत्र हेयोपादेयज्ञानं मत्कुण्डलयोर्मंदात्मकत्वाद् भिन्नज्ञानं चाज्ञानमेवेति भावः । यतस्तथा ज्ञानमज्ञानमतः सम्यगास्थितो मत्स्वरूपपरो मदाज्ञया कुर्वन्नुभयोरप्येकं फलं मत्प्रसादरूपं विन्दते प्राप्नोतीत्यर्थः ॥४॥

इन दोनों में त्यागबुद्धि तथा उपादेयबुद्धि करने वाले इन्हें मेरे स्वरूप से भिन्न जानने वाले मूर्ख हैं। अतः कहते हैं—सांख्ययोगौ……

सांख्य और योग भिन्न प्रकार से अनुष्ठित किये जाते हैं ऐसा मूर्ख कहते हैं, पण्डित नहीं। पण्डित का अर्थ ज्ञानी है। सांख्य और योग भगवान् के कुण्डल के समान हैं। अतः इनमें हेयत्व उपादेयत्व ज्ञान व्यर्थ है, क्योंकि कुण्डल भी भगवदात्मक हैं अतः उनमें भिन्न ज्ञान करना अज्ञान है, यह भाव है। क्योंकि उस प्रकार का ज्ञान (भेद बुद्धि करना) अज्ञान है। अतः मेरे स्वरूप में स्थित होकर मेरी आज्ञा से (कर्म) करता हुआ दोनों के द्वारा (मेरा प्रसाद रूप) एक ही फल प्राप्त करता है ॥४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

एकफलत्वमेव विवेचयति यत्सांख्यैरिति । यत्स्थानं मत्सामीप्यं सांख्यैः सांख्यनिष्ठैः प्राप्यते तत्स्थानं योगैरपि योगानुष्ठातृभिरपि गम्यते प्राप्यते । तथाचायं भावः । उभयोः कुण्डलरूपत्वाद्यथास्थितस्वरूपज्ञानेनोभयनिष्ठानामपि भगवन्मुखसामीप्यमेव भविष्यति यतस्तयोरेकमेव स्थानमतो यः सांख्य योगं चैकं कुंडलात्मकं पश्यति स मां पश्यतीत्यर्थः ॥५॥

एक फल का विवेचन आगे किया है—

मेरा सामीप्य सांख्यनिष्ठ जिस प्रकार प्राप्त करते हैं, योगनिष्ठ भी उसी प्रकार प्राप्त करते हैं। कारण यह है कि सांख्य और योग कुण्डल रूपी हैं और कुण्डल सर्वदा मुख के पास ही रहते हैं। अतः उभयनिष्ठों को भगवान् के मुख का सामीप्य रहेगा। अतः सांख्य और योग को जो एक (मुख स्थान पर) समझता है, कुण्डलात्मक समझता है, वह मुझे देखता है ॥५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

ननूभयोरेकफलत्वे उभयरूपता किमितीत्याशंकायामाह संन्यासस्त्विति । हे महाबाहो! संन्यासस्तु अयोगतः योगं विना आप्तुं दुःखं दुःखरूपमित्यर्थः । अत्रायं भावः संन्यासस्य सांख्यात्मकस्य विप्रयोग रूपत्वाद् योगस्य संयोगात्मकत्वाद्विप्रयोगस्य संयोगपूर्वत्वाद्योगं विना न तत्सिद्धिः स्यादतः उभयरूपत्वेन कथनमित्यर्थः । किं च भगवतोरसरूपत्वाद्रसस्य च द्विरूपत्वादेकरूपत्वेनाकथनेऽपूर्ण एव स स्यादित्यर्थः यतः संयोगं विना न द्वितीयसिद्धिरतो योगयुक्त योगयुक्तः संयोगयुक्तो भूत्वा मुनिः विप्रयोगे मौनैकशरणो भूत्वा अचिरेण शीघ्रमेव ब्रह्म सर्वलीलाव्यापकमधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥६॥

यदि यह शंका की जाय कि जब दोनों का फल एक ही है तो उभयत्व क्यों है? इसके उत्तर में अगला श्लोक कहा है—

हे महाबाहु ! योग के बिना प्राप्त संन्यास दुःख रूप है। भाव यह है कि संन्यास त्यागात्मक है, अतः विप्रयोग रूप वाला है और योग संयोगात्मक है, संयोग पूर्व के योग बिना विप्रयोग (संन्यास) की सिद्धि संभव नहीं है । अतः दोनों (सांख्य योग) की उभयरूपता कही गई है ।

दो रूप में एक को त्यागकर एक का कथन करें तो अपूर्णता होगी । भगवान् रस रूप हैं और दो प्रकार के हैं । अतः एकत्व कथन में वह अपूर्ण है । संयोग के बिना द्वितीय की सिद्धि नहीं है । अतः संयोग युक्त हो विप्रयोग में मौन की शरण लेकर शीघ्र ही सर्वलीला व्यापक ब्रह्म को प्राप्त करता है ।।६।।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।७।।

ननु ब्रह्मप्राप्तिरेवोत्तमा तदा भक्त्यैव तत्सिद्धिरिति नियत स्वफलभोगकारक कर्मकरणं किं प्रयोजनकमित्याशंक्याह योगयुक्त इति । योगयुक्तो मत्संयोगात्मवान् विशुद्धात्मा विशेषेण शुद्ध आत्मा अन्तकरण कामादिभावरहितं यस्य विजितात्मा विजितो वशीकृत आत्मा भगवत्स्वरूपं येन जितेन्द्रियः जितानि इन्द्रियाणि स्वभोगादिकरणानि येन सर्वभूतात्मा सर्वभूतात्मरूपो भगवान् स एवात्मा स्वरूपं यस्य तादृशो मदाज्ञया लोकसंग्रहार्थं कर्म कुर्वन्न लिप्यते तत्फलभोगेन न बध्यते ।।७।।

यदि यह शंका करें कि ब्रह्म की प्राप्ति ही श्रेष्ठ है और वह भक्ति से ही प्राप्त हो जायगी तो अपने फलभोगकारक निश्चित कर्म करने का प्रयोजन क्या है ? इस आशंका की निवृत्ति के लिये कहा है 'योगयुक्त ……' इति ।

मेरे संयोग से युक्त शुद्ध अन्तःकरण वाला कामादि दोष से रहित आत्मा को वश में करनेवाला जो भगवत् स्वरूप हो गया है, जिसने भोगादि के उपकरण इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली है और सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा को

भगवत्स्वरूप में देखता है वह मेरी आज्ञा से लोकसंग्रह के लिये कर्म करता है, इसलिये वह न तो कर्म फल से लिप्त होता है और न कर्मफल भोगने के लिये उससे बंधा ही रहता है ।।७।।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्छ्वसन् ।।

ननु नियत फलस्य कर्मणः कृतस्य कथं न फलमित्याशंक्याह नैव किञ्चिदित्यादि द्वाभ्याम् । तत्त्ववित् भगवदिङ्गितज्ञः युक्तः मद्भावयुक्तः सन् नैव किञ्चित्करोमि—अहं किञ्चिदपि न करोमि किन्तु भगवदिच्छया तदाज्ञया यथा स कारयति तथा वारिवशात्तृणादिचलनवत्, कर्म किमपि मत्तो न भवति न त्वहं करोमीति यो मन्यते स पापेन कर्मजफलेन न लिप्यते । एवं रूपस्य स्थितिमाह पश्यन्नित्यादि । भावात्मकेन मनसा स्थिरीकृतलौकिकेन्द्रियवृत्तयः प्रभृतिभिः पश्यन् भगवत्स्वरूप दर्शनं कुर्वन् । शृण्वन् भगवत्कीर्तनवेणुनादादि शृण्वन् । स्पृशन् भगवच्चरणारविन्दस्पर्शं कुर्वन् । जिघ्रन् भगवन्मुखामोदादि घ्राणं कुर्वन् । गच्छन् गोचारणादिलीलायां सह गच्छन् । स्वपन् लीलादिसङ्गे नेत्र मुद्रणं कुर्वन् । श्वसन् विप्रयोगादिना श्वासविमोकं कुर्वन् ।

नियमित फल वाले कर्म के करने से फल क्यों नहीं होता—इस आशंका का उत्तर दिया है 'नैव किंचित्' आदि दोनों श्लोकों से ।

भगवान् के इंगित को जानने वाला भगवान् के भाव से युक्त होकर मैं कुछ नहीं करता. भगवान् की इच्छा से, उनकी आज्ञा से, जैसे कर्म प्रभु कराना चाहते हैं, जल के वश तृण चालन की तरह, (मैं वैसे ही कर्म करता हूं ।) कर्म मुझसे नहीं होते या मैं उन्हें नहीं करता । (ऐसा समझने वाला) कर्म के फल से लिप्त नहीं होता । ऐसे स्वरूप वाले की स्थिति बतलाई है 'पश्यन्' आदि द्वारा ।

भावात्मक रूप से स्थिर की गई अलौकिक इन्द्रियों (चक्षु) आदि से भगवान् के स्वरूप का दर्शन करके तथा भगवान् के द्वारा बजाये गये वेणु आदि के शब्दों को सुनकर, भगवान् के चरणारविन्दों का स्पर्श करके, भगवान् के मुख के आमोद को सूंघकर, गोचारण आदि लीला में संग में आकर, लीला के समय नेत्र निमीलन करके, विप्रयोग में प्रलाप विमोक करके ॥८॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥९॥

प्रलपन् महारासे मत्तावस्थायां भ्रमरवद्गानं कुर्वन्, विसृजन् तदवस्थायामेव दूरे गच्छन् । गृह्णन् तदवस्थयैवाऽऽलिंगनादिभिरङ्गेषु कुर्वन् । उन्मिषन् मत्तावस्थात्यागेन स्वरूपानुभवं कुर्वन् । निमिषन् तत्सुखानुभवेन नेत्र निमीलितं कुर्वन् । इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु भगवदवयवेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

उन्हीं के भाव से मत्तावस्था में भ्रमर की तरह गान करके, और उसी अवस्था में दूर जाकर और उसी मत्तावस्था में अंगों में आलिंगन आदि करके, मत्त अवस्था को त्यागकर स्वरूप का अनुभव करके और उसी सुखानुभव से नेत्र निमीलन करके इन्द्रियों को भगवान् के अवयवों में लगाकर ॥९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

यद्वापि पुरुषोत्तमे संगम आधाय संयोगावस्थायां स्थित्वा, अथवा संगं त्यक्त्वा वा विप्रयोगावस्थायां स्थित्वा कर्माण्यपि यः करोति स तेन न लिप्यते तत्र दृष्टान्तमाह । पद्मपत्रमिवेति अम्भसा पद्मपत्रमिव । जले स्थितमपि तद्यथा न लिप्तं भवति तथेत्यर्थः ॥१०॥

पुरुषोत्तम भगवान् में संयोग अवस्था से स्थित होकर अथवा विप्रयोग अवस्था में संग का परित्याग कर जो कर्म करता है वह पाप से लिप्त नहीं होता ।

इसमें दृष्टान्त है पद्म पत्र का, जिस प्रकार पद्म पत्र जल में रहकर भी उससे दूर है उसी प्रकार भगवदीय व्यक्ति कर्म करता हुआ भी निर्लिप्त रहता है ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥

ननु सिद्धदशायामुक्तं साधनदशायां तत्करणे कथं न लेपः स्यादित्याशंकायामाह कायेनेति । कायेन देहेन भावस्वरूपरहितेन अधिष्ठानात्मकेन तादृशेनैव मनसा केवलैरिन्द्रियैराध्यात्मिकैं बुद्ध्यापि तत्प्राप्तिरूपेच्छया आत्मशुद्धये भावस्वरूप प्राप्त्यर्थं योगिनः संयोगात्मक साधनवन्तः सगं कर्मफलं त्यक्त्वा कर्म भगवदिच्छया कर्तव्यात्मकत्वेन कुर्वन्ति । साधन दशायामपि भगवदिच्छां ज्ञात्वा फलाभावेन कृतं कर्म न बन्धकं भवतीति भावः ॥११॥

प्रश्न— यह बात तो सिद्ध दशा में घटित है, साधनावस्था में तो लिप्त होना आवश्यक है । उत्तर में कहा गया है 'कायेन' आदि ।

देह (भाव स्वरूप रहित) से अथवा वैसे ही मन से, केवल इन्द्रियों से, बुद्धि से उसकी प्राप्ति के लिये आत्मशुद्धि किंवा भावस्वरूप प्राप्ति के लिये योगी संयोगात्मक साधन वाले कर्म के फल को त्यागकर भगवान् की इच्छा से कर्म करते हैं । साधन दशा में भी भगवान् की इच्छा को जानकर—फल की भावना को त्याग कर किया हुआ कर्म बन्धक नहीं होता, यह भाव है ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिं प्राप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्धयते ॥१२॥

ननु साधनदशायां फलत्यागेन कर्म करणं किं प्रयोजनकमित्याशंक्याह युक्त इति । युक्तो भगवद्भजनैकनिष्ठः सन् कर्मफलं त्यक्त्वा भगवदाज्ञाकरत्वेन कर्म करोति । स नैष्ठिकीं भगवत्तोषरूपां शान्तिं भगवदाज्ञाऽकरणाभावं तापरहितभगवदाज्ञाकरणतोषरूपां प्राप्नोतीत्यर्थः । अतः साधनदशायामपि भगवदाज्ञात्वेन कर्मकरणमुत्तममिति भावः । अभगवदीयस्तु फलाशया कर्मकरणेन बद्धो भवतीत्याह अयुक्त इति । अयुक्तः अभगवदीयः कामकारेण कामनया प्रवृत्तः फले सक्तः सन्निबद्ध्यते नितरां बद्धो भवति । न भगवत्तोषं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१२॥

यदि यह प्रश्न करें कि साधनावस्था में फल त्यागने से कर्म करने का प्रयोजन ही क्या ? अतः कहा है 'युक्तः कर्मफलं……'।

भगवान् के भजन में निष्ठ व्यक्ति कर्म के फल को त्यागकर भगवान् की आज्ञा मानकर कर्म करता है, वह नैष्ठिकी भगवत्तोष रूप शान्ति को प्राप्त करता है। तापरहित भगवान् की आज्ञाकरण रूप तोष को वह प्राप्त करता है। अतः साधन दशा में भी भगवान् की आज्ञा से कर्म करना उत्तम है। जो भगवान् का नहीं है, वह फल की आशा से कर्म करता है और बन्धन में पड़ जाता है। अयुक्त अर्थात् अभगवदीय को बन्धन अवश्यम्भावी है अर्थात् उसे भगवान् का सन्तोष प्राप्त नहीं होता ॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

एवं भगवद्भक्तो भगवदाज्ञया कर्म कुर्वन् सुखमाप्नोति अयुक्तस्तु फलाशया कर्म कुर्वन् बद्धो भवतीत्युक्तं तत्र अभक्तस्य सर्वकर्मत्याग एवोत्तम इत्यर्जुनमनस्याभासं प्राप्य त्यागेऽपि भक्तानामेव सुखं नेतरेषामित्याह सर्वकर्माणीति । वशी भगवद्वशे स्थितः सर्वकर्माणि संन्यस्य त्यक्त्वा नवद्वारे पुरे श्रवणादिकरणसमर्थे देहे देही भगवदर्थं देहाभिमानवान् सुखमास्ते तिष्ठति । मनसा नैव कुर्वन् स्वार्थाहंकाराभावात् न किंचित्कुर्वन् । न वा ममताभावादन्येभ्यः परोपकार उपदेशादिना कारयन् सुखमास्ते इति भावः ॥१३॥

भगवान् का भक्त भगवान् की आज्ञा से कर्म करता हुआ सुख प्राप्त करता है। अयुक्त तो फलाशा से कर्म करता है अतः बद्ध होता है। अभक्त को समस्त कर्मों का परित्याग ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार का आभास अर्जुन के मन में स्थिर करके त्याग में भी भक्तों को सुख है, अभक्तों को नहीं, अतः 'सर्व कर्माणि' कहा है। भगवान् के वश में स्थित होकर सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग करके नवद्वार वाले शरीर में देही भगवान् के लिये देहाभिमानी बनकर सुख पूर्वक रहता है। भाव यह है कि वह कर्म मन से नहीं करता। स्वार्थ और अहंकार रहित होकर ममता के अभाव में अन्यों को परोपकार–उपदेश आदि की दृष्टि से करते हुए सुख पूर्वक रहता है ॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

ननूपदेशादिना कारणे को दोष इति चेत्तत्राह न कर्तृत्वमिति । प्रभुः ईश्वरः लोकस्य कर्तृत्वं न सृजति । न कर्माणि सृजति । न वा कर्मफलसंयोगं सृजति । अतः स्वयमपि किमिति तयोरुपदिशेदिति भावः । नन्वीश्वरोत्पादनाऽभावे लोकः कथं प्रवर्तत इत्यत आह स्वभावस्तु प्रवर्तत इति । जीवस्य स्वभावः प्रकृत्यात्मकः प्रवर्तते कर्तृत्वादिरूपेण ॥१४॥

यदि यह प्रश्न करें कि उपदेश आदि कारण में दोष ही क्या है ? तो कहा है 'न कर्तृत्वम्' इति।

ईश्वर न तो लोक का कर्तृत्व रचता है, न कर्मों को रचता है और न कर्मों के फलों के संयोग को ही रचता है। अतः स्वयं ही उपदेश क्यों दे ? यदि ऐसी शंका करें कि ईश्वर को रचयिता न मानने से लोक की प्रवृत्ति ही क्यों होगी, अतः

कहा है 'स्वभावस्तु' अर्थात् जीव का स्वभाव कर्तृत्व आदि रूप से प्रवृत्त्यात्मक होता है ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

यतः प्रभुर्न सृजत्यतः कस्य चित् पापपुण्यादिकमंगीकृत्य फलं न ददातीत्याह नादत्त इति । विभुः अतिसमर्थः स्वेच्छयैव सर्वफलदान समर्थः कस्यचित् जीवस्य पापं पापरूपं कर्म न आदत्ते नाङ्गीकरोति तदंगीकृत्य नरकादिफलं न ददातीत्यर्थः । सुकृतं च नैवांगी करोति तदंगीकारेण स्वर्गादिसुखं न ददातीत्यर्थः । विभुत्वात् स्वक्रीडेच्छयैव यथासुखं करोतीति भावः । नहि 'एष एव तं साधु कर्म कारयती'त्यादि श्रुतिभ्य ईश्वर एव तत्तत्कर्म कारयित्वा सर्वेभ्यः फलं ददातीति कथमुच्यते तत्राह अज्ञानेनेति । अज्ञानेन प्रकृत्युपाधिना ज्ञानं भगवत्स्वरूपात्मकं श्रुत्यर्थरूपं वा तेन जन्तवः जीवा मुह्यन्ति मोहं प्राप्नुवन्ति । अन्यथा वदन्तीत्यर्थः ॥१५॥

प्रभु नहीं रचते अतः किसी के पाप पुण्य आदि को अंगीकार करके वे फलदायी भी नहीं होते । अतः कहा है—'ना दत्ते' इति ।

विभु—सर्वसमर्थ ! स्वेच्छा से ही सम्पूर्ण फल दान में समर्थ हैं, वे किसी के पाप पुण्य रूप कर्म को स्वीकार नहीं करते । अर्थात् नरक आदि फल नहीं देते । सुकृत स्वीकार करके प्रभु किसी को स्वर्ग आदि फल नहीं देते । वे विभु हैं अतः अपनी क्रीडा की इच्छा से ही यथा रुचि करते हैं । श्रुति 'एष एव' में भी यही तथ्य प्रमाणित किया है । ईश्वर ही उन-उन कर्मों को कराकर सबको फल देता है—ऐसा क्यों कहा जाता है । इसके उत्तर में कहा है—'अज्ञानेन' । प्रकृति बोध हो जाने पर भगवत्स्वरूपात्मक या श्रुत्यर्थ रूप ज्ञान होने पर जीव मोह को प्राप्त हो जाते हैं । यह अन्यथा कथन है ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

श्रुतौ तु पूर्वं तादृक् फलदानेच्छां निरूप्य पश्चात् कर्मकारणत्वमुच्यते न तु कर्मफलप्रदानत्वमिति किन्तु विचित्रेच्छात्वमेवागतीति येषां भगवता ज्ञानेनाज्ञानं नाशितं ते न मुह्यन्तीत्याह । ज्ञानेनेति । तु पुनः । आत्मज्ञानेन भगवत्संबंधिज्ञानेन ज्ञानात्मकभगवद्रूपेण येषां दुर्लभानां कृपापात्राणां तत्पूर्वोक्तमज्ञानं नाशितं तेषां तद् भगवदात्मकं ज्ञानं परं ब्रह्म प्रकाशयति प्रकटयतीत्यर्थः । आदित्यवत् यथा सूर्यस्तमो दूरीकृत्य स्वात्मसहितं स वस्तुमात्रं प्रकाशयति तथा ॥१६॥

श्रुति में तो पहले उस प्रकार के फलदान की इच्छा का निरूपण कर्म कारण कहा जाता है । कर्म फल नहीं आता किन्तु विचित्र इच्छा ही है । भगवान् के ज्ञान के द्वारा जिनका अज्ञान नष्ट है वे मोहित नहीं होते । आत्मज्ञान से, भगवत्सम्बन्धी ज्ञान से ज्ञानात्मक भगवद्रूप से जिन दुर्लभ कृपा पात्रों का पूर्वोक्त अज्ञान नष्ट हुआ है उनको वह भगवदात्मक ज्ञान परं ब्रह्म प्रकट होता है जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को दूर कर स्वयं सहित सम्पूर्ण वस्तुओं का प्रकाशक होता है इसी प्रकार ज्ञान भी सब को प्रकाशित करता है ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

तत्प्रकाशनात्फलं भवतीत्याह तद्बुद्धय इति । तस्मिन् ईश्वरे बुद्धिर्येषां ते । तस्मिन् स एव वा आत्मा येषां ; तस्मिन्नेव निष्ठा भावो येषां तस्मिन्नेव परायणाः तत्परास्तादृशाः । ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः निरस्ताऽज्ञानाः । अपुनरावृत्तिं मोक्षं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ॥१७॥

इस प्रकार से फल भी होता है। ईश्वर में बुद्धि हो जाने से उसमें ही लीन होकर, परायण होकर, ज्ञान द्वारा अज्ञान को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८

तेषां लक्षणमाह विद्येति । विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे श्वपाके शुनो [illegible] ते यः पश्यति तद्भिन्नत्व गविहस्तिनि शुनि च समदर्शिनः पण्डिताः ज्ञानिनो ज्ञेया इत्यर्थः ॥१८॥

ज्ञानियों का लक्षण कहा जाता है। विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, कुत्ता पकाकर खाने वालों में, गाय-हाथी-कुत्ते में जो यह जानते हैं कि सब में भगवान् का अंश है, वे पंडित हैं अर्थात् ज्ञानी हैं ॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

य एतादृशास्त उत्तमा इत्याह इहैवेति । येषां साम्ये समभावे स्थितं तैरिहैव सर्गो जितः । अयमर्थ भावः । भगवता स्वक्रीडार्थं जगदुत्पादितं तत्र यस्य यादृशेच्छया यो भाव उत्पादितः स तथैव करोति । स योग्यो भवति नवेति किमर्थं विचारणीयम् । अतो येषां मनः साम्ये भगवत्क्रीडारूपे स्थितं तैरिहैव अधिष्ठानात्मकदेहे एव सर्गः सम्सारो मायाकृतो जितः । यतो ब्रह्म समं स्वक्रीडास्वरूपेषु निर्दोषं तेषु दोषादिरहितं तस्माद्येषां मनः साम्ये स्थितं ते ब्रह्मणि ब्रह्मभावे स्थिताः अतस्तैः सम्सारो जित इत्यर्थः । यद्वा सर्गः स्वोत्पत्तिर्जिता वशी कृता सकलीकृतेत्यर्थः भगवता स्वमेवार्थमुत्पादितास्तत्रहितमिति भावः । यद्वा येषां मनः संयोगवियोगयोः साम्येन स्थितं तैरिहैव अधिकरणदेह

एव सर्गः अलौकिकोऽयं भावो जितो वशीकृतः । तदेव अलौकिकदेहो भावरूपो यत्र जायते [illegible] यदैवेच्छति तदैव भावप्राकट्यं भवतीति भावः । हीति युक्तमेव यतो ब्रह्म भगवान् स्वस्थायिरसात्मकत्वाद् समानाद्यवस्थासु निर्दोषं यथा रासे । यतो ब्रह्म तादृशं तस्मात् ते ब्रह्मणि ब्रह्मभावे निरोधरूपे स्थिता इति भावः ॥ १९ ॥

ऐसे ज्ञानी ही उत्तम हैं। जिनका मन सम भाव में स्थित है, उन्होंने सर्ग जीता है। भाव यह है कि भगवान् ने अपनी क्रीडा के लिये जगत् उत्पन्न किया है। इस जगत् में जिसको जिस इच्छा से जो भाव पैदा किया है, वह वैसा ही आचरण करता है। वह योग्य है या नहीं विचारणीय नहीं है। अतः जिनका मन भगवत् क्रीडा रूप साम्य में स्थित है उन्होंने इस लोक में ही—अधिष्ठानात्मक देह में ही सर्ग—माया रूप संसार को जीत लिया है। क्योंकि ब्रह्म के समान अपने क्रीडार्थ रूप में, निर्दोष में, दोषादि रहित जिनका मन है, साम्य में अवस्थित है, वह ब्रह्म में ब्रह्मभाव से अवस्थित माना जाता है। अतः ब्रह्म में साम्य करने वाले संसार को जीत लेते हैं। अथवा उन्होंने सर्ग—स्व अपनी उत्पत्ति को वश में कर लिया है, या सफल कर लिया है। अपने को ही उत्पन्न किया है अथवा जिनका मन संयोग और वियोग में साम्य से स्थित है उन्होंने अधिकरण देह में ही अलौकिक सर्ग को वश में कर लिया है। अलौकिक देह भावरूप है, क्षण में हो जाता है। क्योंकि वह जब जब इच्छा करता है तब तब भाव प्रकट हो जाते हैं। ब्रह्म—भगवान् स्थायी रसात्मक है, वह समान आदि अवस्थाओं में भी निर्दोष है, जैसे रास में। ब्रह्म वैसा है अतः वे ब्रह्म में ब्रह्म भाव से निरोध रूप में स्थित हैं, यह भाव है ॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

एवं साम्यस्थितस्य ब्रह्मभावापत्तिमुक्त्वा तद्भावापन्नस्य लक्षणमाह न प्रहृष्येदिति । प्रियं प्राप्य संयोगेन न प्रहृष्येत् । यतः प्रकृष्टहर्षेणापि

मानोत्पत्त्या दोषः स्यात् । न पुनः अप्रियं विप्रयोगं प्राप्य नोद्विजेत उद्वेगं न प्राप्नोति । यतो भगवता विप्रयोगः परमसुखदानार्थं दत्तस्तत्रोद्वेगेऽपि न तत्प्राप्तिः स्यात् । एवमवस्थाद्वये स्थिरबुद्धिः सः असंमूढः ब्रह्मवित् मोहाभावेन ब्रह्मस्वरूपज्ञ इति भावः । ब्रह्मणि ब्रह्मभावे स्थितः स इत्यर्थः ॥२०॥

साम्य में अवस्थित के ब्रह्मभाव को बतलाकर ब्रह्म भावापन्न का लक्षण कहा जाता है—प्रिय को प्राप्तकर संयोग से प्रसन्न न हो, क्योंकि प्रसन्नता से आगे मान उत्पन्न होगा जो दोष है । अप्रिय विप्रयोग को प्राप्तकर उद्वेग प्राप्त न करे क्योंकि भगवान् ने विप्रयोग को परम सुख देने के लिये दिया है । उद्वेग से उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है । इस प्रकार जो दोनों अवस्थाओं में स्थिर बुद्धि रखता है वह मोह रहित व्यक्ति ब्रह्म को जान लेता है, ब्रह्म में ब्रह्मभाव से ही अवस्थित होता है, यह भाव है ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

नन्वनेन शरीरेण कथं तद्भावप्राप्तिरित्याशंक्याह । बाह्यस्पर्शेष्विति । बाह्यस्पर्शेषु लौकिकेन्द्रियविषयेष्वसक्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य स आत्मनि भावात्मके स्व स्वरूपे यत्सुखं तद्विन्दति प्राप्नोतीत्यर्थः । योगो भावात्मकं सुखं तं जानाति । स ब्रह्मयोगे तद्भावात्मके युक्त आत्मा यस्य तादृशो भवति । अक्षयं तद्दास्यात्मकं सुखमश्नुते भुङ्क्ते इत्यर्थः ॥२१॥

यदि यह शंका हो कि इस शरीर से ब्रह्मभाव की प्राप्ति कैसे संभव है ? इसका उत्तर अगले श्लोक 'बाह्यस्पर्शेषु' में है—

जिसका अन्तःकरण लौकिक इन्द्रियों में अनासक्त है वह आत्मा में—भावात्मक स्व स्वरूप में जो सुख है उसे प्राप्त करता है । योग अर्थात् भावात्मक सुख को जानता है । वह ब्रह्मयोग में भावात्मक में युक्त आत्मा वाला हो जाता है । परमेश्वर के दास्यात्मक सुख का भोग करता है ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषुरमते बुधः ॥२२॥

ननु लौकिकरसभोगाभावेऽनुभवं विना कथमलौकिकरसज्ञानं स्यात्तदभावे च कथं तदनुभवः स्यादित्यत आह ये हि संस्पर्शजा इति । संस्पर्शजा भोगा विषयसंबंधिनो लौकिकाश्च भोगास्ते दुःखयोनयो भगवत्संबंधाभावक्लेशकारणभूताः यत आद्यन्तवन्तः । आदिमन्तः स्वभावेनैवोत्पन्ना न तु भगवदिच्छया अन्तवन्तः स्वमनोरथपूर्त्यैव पूर्णाः । यतस्त एव तादृशा अतो हे कौन्तेय ! मद्भावानुभवयोग्य ! हीति निश्चयेन बुधः सर्वरसज्ञो भगवान् न रमते—न रस दानं करोतीत्यर्थः । यतो भगवान् बुधः सर्वरसज्ञोऽतस्तदिच्छया तद्भोगानुभवः सिद्ध एव भविष्यतीति भावः ॥२२॥

लौकिक रस भोग के अभाव में अनुभव का अभाव है अतः अलौकिक रस का ज्ञान कैसे होगा और फिर अलौकिक अनुभव संभव नहीं । अतः श्रीकृष्ण ने कहा—विषय संबंधी लौकिक भोग दुःख के कारण हैं क्योंकि इनसे भगवान् का संबंध दूर हो जाता है । संबंध का दूर होना ही क्लेश का कारण है और इस से ही ये आदि-अन्तवाले कहे गये हैं । आदि का अभिप्राय यह है कि ये स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, भगवान् की इच्छा से नहीं । अन्त का अभिप्राय है मनोरथ पूर्ति से पूर्ण होना । भोग ऐसे ही हैं । हे कौन्तेय ! अर्थात् मद्भाव के अनुभव करने में समर्थ, सम्पूर्ण रसों के ज्ञाता भगवान् रसदान नहीं करते । भगवान् सर्व रस ज्ञान समर्थ हैं, अतः तद्भोग का अनुभव उनकी इच्छा से ही सिद्ध होगा यह भाव है ॥२२ ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

तस्माल्लौकिकभोगत्याग एव तत्संबंधबाधक इत्याह । शक्नोतीति । यः शरीरविमोक्षणात् प्राक् अलौकिकदेहाप्तिकालात् पूर्वं कामक्रोधोद्भवं वेगं कामोद्भवं स्वेच्छाजनितरसभावाभावजं क्रोधोद्भवं अन्येषु तदिच्छापूर्तिदर्शनक्षोभजं सोढुं शक्नोति स इहैव अस्मिन्नेव शरीरे युक्तो भावात्मकस्वरूपयुक्तः स सुखीनरः मद्भक्तः स्यादित्यर्थः ॥२३॥

लौकिक सम्बन्धों का परित्याग ही उनके सम्बन्धों में श्रेयस्कर है। जो अलौकिक देह प्राप्ति काल के पूर्व ही काम अर्थात् स्वेच्छा से उत्पन्न रस भाव के अभाव से उत्पन्न और क्रोध अर्थात् अन्यों पर इच्छा पूर्ति दर्शन क्षोभ से उत्पन्न को जो सहन करता है, वह इस शरीर में भावात्मक भाव से सुखी रहता है, वह मनुष्य मेरा भक्त है ॥२३॥

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

ननु सुखावलम्बनाभावे कथं बाह्यदुःखसहनं न स्यादित्याशंक्याह । योऽन्तःसुख इति । योऽन्तःसुखः भावात्मकस्वरूपसुखवान् अन्तरारामः अन्तरेव भावात्मकस्वरूप एव भगवद्रमणकारणवान् तथा अन्तर्ज्योतिः संयोगरससुखवत्तरोऽपि वियोगतापसुखानुभववान् । स योगी मत्संयोगरसयुक्तो भूत्वा ब्रह्मभूतः अलौकिकस्वरूपः सन् ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मवत् भगवन्निर्वाणं परां लीलात्मकतां अधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२४॥

सुख के अवलम्बन के अभाव में दुःख सहन संभव नहीं, इसका उत्तर दिया है 'योऽन्तः' श्लोक में।

जो भावात्मक स्वरूप सुखवाला अन्तरात्मा है वह भावात्मक

स्वरूप में ही भगवान् के रमण का कारण वाला होता है। और संयोग रस के सुख की समता से वियोगताप के सुख का भी अनुभव कर लेता है। वह व्यक्ति मेरे संयोग रस से युक्त होकर अलौकिक स्वरूप वाला ब्रह्मरूप ब्रह्म की भाँति निर्वाण अर्थात् लीलात्मकता को प्राप्त हो जाता है ॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

ननु लीलात्मकता ऋषीणामपि दुर्लभा कथं केवलभाववतामेव सिद्ध्येदित्यत आह । लभन्त इति । क्षीणकल्मषाः भगवल्लीलानुभवफलेतरफलानभिलाषिणः ऋषयः फलदर्शिनोऽग्निकुमारादितुल्याः । ब्रह्मनिर्वाणं लीलात्मकत्वं लभन्ते । कीदृशाः । छिन्नद्वैधाः छिन्नसंशयाः एतत्फलेतर फलासङ्गिनः । पुनः कीदृशाः । यतात्मानः केवलं भगवत्यर्पितनिष्ठात्मवन्तः । पुनः कीदृशाः सर्वभूतहिते भगवति रताः अनुरागिणो ये ते लीलात्मकतां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । यद्वा भिन्नतया सर्वे एव लभन्ते ऋषयः । तत्र निदर्शनमग्निकुमाराः । छिन्नद्वैधाः श्रुतयो गोपीरूपाः । यतात्मानो वृन्दावने पक्ष्यादिरूपा मुनयः । सर्वभूतहितेरताः पुलिन्द्यः । एवं भाववन्तः सर्वेऽपि लभन्त इति भावः ॥२५॥

लीलात्मकता मुनियों को भी दुर्लभ है। अतः केवल भाव अनुभूति वालों को वह प्राप्त कैसे होगी? इसी से कहा है—'लभन्ते'। भगवान् की लीला के अनुभव फल से पृथक् फल न चाहने वाले ऋषि तथा फलद्रष्टा अग्निकुमार आदि की भाँति ब्रह्मनिर्वाण=लीलात्मकता को प्राप्त करते हैं। वे लीलात्मकता के फल के अतिरिक्त अन्य फल को जानते ही नहीं। उनकी निष्ठा केवल भगवान् में ही होती है। उनकी रति भगवान् में ही होती है। ऐसे अनुरागी लीला स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। अथवा भिन्न होने से ऋषि सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ अग्निकुमारों का उदाहरण दर्शनीय है। द्वैत नष्ट करने वाली श्रुति गोपीरूप में, यतात्मा पक्षी आदि के रूप में वृन्दावन में, सम्पूर्ण भूतों के हित में संलग्न भीलनी आदि ने इस लीला स्वरूप को प्राप्त किया है ॥२५॥